उपक्रम

जिस प्रकार भावावेग की स्थिति होने पर कवि द्वारा कविता की रचना की जाती है उसी प्रकार मन के भावात्मक अंश के प्रबुद्ध होने पर पाठक भी काव्य का मनोयोग से अध्ययन करता है। संयोग से यदि पाठक की काव्यालोचन में भी कुछ गति होती है तो साहित्य के उस विशिष्ट अंग के विकास में एक नया चरण जुड़ने की सम्भावना हो जाती है। यही स्थिति मेरे साथ है। सन् १९४८ से सन् १९५३ तक के अपने कॉलिज के छात्र-जीवन में मुझे काव्य का अध्ययन करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। मेरा अपना कवि-जीवन भी सन् १९४८ से ही प्रारम्भ होता है। काव्य-रचना की ओर प्रवृत्ति होने के कारण काव्य के अध्ययन के प्रति भी मेरा सहज अनुराग था।

सन् १९४९ के अन्तिम महीनों में मुझे प्रो० विजयेन्द्र स्नातक का शिष्य बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे उनसे सम्पर्क बढ़ता गया वैसे ही वैसे मैं उनके साहित्यिक व्यक्तित्व से प्रेरणा प्राप्त करता रहा। मेरी रुचि मूलतः काव्य-रचना और कहानी-लेखन की ओर थी, किन्तु स्नातक जी की मौलिक काव्य-दृष्टि और विश्लेषण-प्रतिभा से प्रभावित होकर मैं सहसा आलोचक बन बैठा। सन् १९५१ में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी० ए० (ऑनर्स) परीक्षा पास की। तब तक मैं कुछ आलोचनात्मक निबन्ध लिख चुका था। इनमें से कुछ मेरे हाल के निबन्ध संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके उपरांत सन् १९५२ में एम. ए. के छात्र-जीवन में मुझे डा० नगेन्द्र के शिष्यत्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके सम्पर्क में आने के बाद से मैंने आलोचना को अपने साहित्य का एक विशिष्ट अंग बना लिया। मुझे आलोचना-साहित्य की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय मेरे इन दोनों अध्यापकों को ही है। इनकी प्रेरणा के अभाव में इस ओर कभी मेरी रुचि हो पाती, इसमें मुझे सन्देह है। अतः इनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

'काव्य-विवेचन' मेरे सन् १९५१ से अब तक लिखे गए विभिन्न निबन्धों का संग्रह है। इनमें से कुछ निबन्ध हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में पहले प्रकाशित हो चुके हैं। 'कवि बच्चन के काव्य-सिद्धान्त' शीर्षक निबन्ध मेरे शोध कार्य का एक अंग है। इन निबन्धों में भावात्मक आलोचना को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है अर्थात् इनमें मैंने आलोच्य कवि अथवा काव्य के अपने मन पर पड़े हुए प्रभाव का विश्लेषण उपस्थित किया है। इनमें से अधिकांश निबन्धों की रचना

सन् १९५५ तक हो चुकी थी। ग्रत इनमें मेरी परिवर्तित आलोचना शैली का अधिक समावेश नहीं हुआ है। अब मैं व्यावहारिक आलोचना में यथास्थान आवश्यक काव्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उद्भावन की ओर अधिक ध्यान देने लगा हूँ। 'काव्य विवेचन' के कुछ निबन्धों में इस प्रवृत्ति को संकेत रूप में स्थान प्राप्त हुआ है।

मैं काव्यालोचन में सहृदयता की स्थिति को अनिवार्य मानता हूँ। कुछ आलोचक आलोच्य विषय की कटु आलोचना में रस लेते हैं—दोष दर्शन द्वारा अपने मन की कुण्ठाओं को दूर कर विशेष तृप्ति का अनुभव करते हैं—और कुछ समीक्षकों का गुण दोष चर्चा को सम धरातल पर उपस्थित करने का आग्रह होता है, किन्तु मेरी इनमें से किसी की ओर भी रुचि नहीं है। मैं पहले आलोच्य विषय के श्रेष्ठ अंश को ग्रहण कर उसके विषय में अपनी प्रतिक्रिया का उल्लेख करता हूँ और उसके पश्चात् उसके अभाव-पक्ष की ओर संकेत-मात्र को पर्याप्त समझता हूँ, किन्तु इस संकेत में शैली की प्रबलता अवश्य होती है। दोष-दर्शन की आवश्यकता का अनुभव मैं केवल तभी करता हूँ जब मेरे सामने सहसा कुरुचि को प्रोत्साहन देने वाला साहित्य आ जाता है। अभी हाल ही में मेरे सामने इस प्रकार की दो रचनाएँ आई हैं। पहली रचना थी मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित 'होटल डी ताज' शीर्षक उपन्यास है और दूसरी रचना उनके द्वारा प्रशंसित तथा उनकी पत्नी श्रीमती माया मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित 'मँझधार' शीर्षक उपन्यास है। इन दोनों रचनाओं में सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर कुछ ऐसे अश्लील और अनुत्तरदायित्वपूर्ण प्रकरण का समावेश हुआ है जिनकी खरी आलोचना होनी चाहिए। इस प्रकार की कृतियाँ साहित्य के श्रेयत्व को हानि पहुँचाती हैं। अत इनके विषय में स्पष्ट और कटु आलोचना-पद्धति को अपनाना नितान्त उचित है। अस्तु, इस अनुच्छेद में मेरा प्रतिपाद्य यही था कि 'काव्य विवेचन' में मैंने आलोच्य कृतियों अथवा कवियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण को ही अपनाया है।

अत में मैं प्रस्तुत कृति के लेखन में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में प्राप्त होने वाली विविध प्रेरणाओं के लिए उनकी प्रेरक शक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। आशा है कि इसमें सकलित निबन्ध साहित्यानुरागियों को सतोष देंगे।

नई दिल्ली,
१५-७-५६

—सुरेश चन्द्र गुप्त

: १ :

हिन्दी-आलोचना का विकास

सृष्टि में सौन्दर्य का प्रसार सभी व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करता है। विश्व के प्रत्येक भाग में प्रकृति ने किसी न किसी रूप में अपने लिए स्थान बनाया हुआ है और विविध शारीरिक अथवा मानसिक कारणों से मानव ने भी प्रकृति-दर्शन को अपने जीवन का एक प्रमुख अंग बनाया है। सौन्दर्य जब अपनी पूर्णता में अवतरित होता है तब दर्शक के हृदय पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। यह एक शाश्वत सत्य है और इससे परिचालित होने के कारण व्यक्ति-मात्र के मन में अपनी सामर्थ्य के अनुसार सौन्दर्य-शोध करने की इच्छा प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में वर्तमान रहती है। अकारण ही सौन्दर्य से विरत रहना मानव का धर्म नहीं है। यह सौन्दर्य-साधना उन व्यक्तियों के मन में और भी गहरी होकर उतरती है जो उसे सूक्ष्म रूप में देखने के अभ्यासी होते हैं। सौन्दर्य को स्थूल रूप में पहचानने का प्रयत्न साधारण मानसिक सन्तोष के लिये किया जाता है। उस अवस्था में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और तदनन्तर उसके प्रभाव की स्थिति की कुछ परिमापाएँ होती हैं। सामान्य सासारिक कार्यों की ओर उन्मुख होने पर व्यक्ति प्राय उस सौन्दर्य की गहनता का विस्मरण कर बैठता है और उसके मन में इस विषय की एक धुंधली स्मृति-मात्र अवशिष्ट रह जाती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति सौन्दर्य को सूक्ष्म रूप से आंकता है वह उसे अपनी आत्मा में पचा लेता है। प्रतिभा के बल पर अपनी कला के माध्यम से उसे व्यक्ति-मात्र के लिये सुलभ कर देने की प्रेरणा का वह अपने मन में सहज ही अनुभव करने लगता है। कवि भी इस कोटि के सौन्दर्यानुरागियों में से एक है।

जब कवि अपने मानस पर पड़े हुए सौन्दर्य-प्रभाव का अंकन करता है तब हृदय की सहज प्रेरणा से युक्त होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में प्रभाव-सृष्टि की क्षमता स्वभावत ही अधिक आ जाती है। आलोचना के अन्तर्गत कवि के इस कृतित्व का ही मूल्यांकन किया जाता है। काव्य-रचना की भांति काव्या-

लोचन का भी अपार महत्त्व होता है। हिन्दी-साहित्य में आलोचना का अभ्युदय नितान्त आधुनिक है। यद्यपि भक्ति-काल में 'भक्तमाल', 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' एवं 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' जैसे आलोचनात्मक प्रयास दृष्टिगत होते हैं, तथापि लेखक के कृतित्व की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व की अधिक आलोचना करने के कारण वे अपने में पूर्ण नहीं हैं। गम्भीर अध्ययन के अभाव में वहाँ कवि के जीवन प्रसङ्गों के कथात्मक अंश को ही प्रश्रय प्राप्त हुआ है। हिन्दी म आलोचना का सम्यक् प्रवाह भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व आलोचन कर्म में जन-सूक्तियो का अत्यन्त विशद महत्त्व था। जनता मे कवियो की काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप म अनेक धारणाएँ प्रचलित रहा करती थी —

(i) तुलसी गग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन म मिले, भाषा विविध प्रकार॥

(ii) सार सार सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
रही सही कविरा कही, और कही सो झूठी॥

भारतेन्दु युग मे समीक्षक विवेच्य ग्रन्थ के गुण दोषो पर प्रकाश डालना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। उसके काव्य सौन्दर्य के स्पष्टीकरण अथवा तुलनात्मक विवेचन से उन्हे कोई प्रयोजन न था। उक्त काल मे सर्वप्रथम पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका मे पुस्तक-समालोचना दृष्टिगत होती है। इस विषय में उन्होने पर्याप्त उत्साह प्रदर्शित किया है किन्तु उनके समीक्षण म दोषारोपण की प्रवृत्ति को ही अधिक स्थान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य के प्रारम्भिक सूत्रों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयासो का उल्लेख सबसे अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। उनसे पूर्व हिन्दी-आलोचना अभाव के जिन पूर्वग्रहो से लदी हुई थी, उनका निराकरण करने में उन्होने पर्याप्त सीमा तक योग प्रदान किया। उन्होने 'सरस्वती' में तत्कालीन पुस्तकों की अत्यन्त विशद आलोचनाएँ प्रकाशित की। उनके 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' एवं 'नैषध चरित-चर्चा' आदि आलोचनात्मक ग्रन्थ कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, किन्तु खेद का विषय है कि उन्होने परम्परागत परिपाटी के अनुसार आलोच्य रचनाओं के दोषो का ही अधिक उल्लेख किया है। उनमें समाविष्ट गुणो और साहित्य की दृष्टि से उनके सौन्दर्य का दिग्दर्शन उन्होंने अत्यन्त अल्प मात्रा में ही किया है। यद्यपि तुला-

लीन आवश्यकताओं के अनुसार उनकी यही समीक्षण-शैली अधिक उपयुक्त हो सकती है, तथापि यदि वह रचना की विशिष्टताओं की भी चर्चा कर देते तो उनकी आलोचनाएँ साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाती।

इसके उपरान्त 'हिंदी-नवरत्न' की रचना द्वारा मिश्र-बन्धुओं ने आलोचना के विकास को एक नवीन चरण प्रदान किया। 'मिश्रबन्धु-विनोद' की रचना द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का क्रमिक रूप से अध्ययन करने की महत्वपूर्ण परम्परा को प्रारम्भ किया। दोष प्रदर्शन की शैली को गौण स्थान देते हुए उन्होने सर्वप्रथम स्पष्ट आलोचना को जन्म दिया। इस दृष्टि से विवेचना के क्षेत्र मे उनका एक पृथक् एवं विशिष्ट स्थान है, किन्तु रचना के अन्तरङ्ग का सूक्ष्म दर्शन और वैज्ञानिक आलेखन उनकी समीक्षाओं में भी दृष्टिगत नही होता। उनके पश्चात् पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'विहारी-सतसई' के प्रसिद्ध सजीवन भाष्य की रचना द्वारा हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का पथ प्रशस्त किया। व्यङ्ग्य-प्रधान होने के कारण उनकी शैली में हास्य एवं मनोरंजन का भी उपयुक्त विधान दृष्टिगत होता है, किन्तु दोष निदर्शन की पूर्ण उपेक्षा के कारण उनकी आलोचना भी एकाङ्गी हो गई है। अतिरंजना के अतिशय आधिक्य के कारण निश्चय ही अनेक स्थलो पर उसमें स्वाभाविक अभिव्यंजना के सिद्धान्त की हत्या हुई है।

आलोचना की इस एकाङ्गिता का एक निश्चित धारा में प्रारम्भ यहीं से होता है। इससे पूर्व की समीक्षाएँ और कुछ भी हो, एकाङ्गी प्राय नही होती थी। शर्मा जी की विहारी-सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर प० कृष्णविहारी मिश्र ने महाकवि देव की उत्कृष्टता बताते हुये 'देव और विहारी' नामक ग्रन्थ की रचना की। एकाङ्गी-निर्धारण के फलस्वरूप इसमें कहीं-कहीं विहारी के काव्य के गुणों को भी दोष सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इसका उत्तर देने के लिये ला० भगवानदीन ने समानान्तर रूप में 'विहारी और देव' कृति की रचना की। इसमें भी प्रकारान्तर से प्राय उसी धारा को परम्परागत रूप में स्वीकार किया गया है। आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं का यह स्वरूप कुछ समय तक इसी प्रकार चलता रहा, किन्तु सन्तोष का विषय है कि उक्त दोनों पुस्तकों के पश्चात् यह परम्परा निरंतर क्षीण पड़ती गई।

हिन्दी-आलोचना के इस प्रारम्भिक स्वरूप की समाप्ति डॉ० श्याम-सुन्दरदास के समय से प्रारम्भ होती है। उन्होंने हिंदी में सैद्धान्तिक आलोचना के अभाव को लक्षित कर 'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' नामक दो ग्रंथो

की रचना की। इनमें भारतीय काव्य-दृष्टि के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-दृष्टि का भी सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। आलोचना के प्रयोग-पक्ष की दृष्टि से भी डॉ० श्यामसुन्दरदास ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। वह रसवादी आलोचक थे और उन्होंने आलोच्य रचनाओं के सहृदयतापूर्ण अध्ययन उपस्थित किए हैं। इस दिशा में उन्होंने एक ओर तो 'हिन्दी भाषा तथा साहित्य', 'महात्मा तुलसीदास' और 'साहित्यिक लेख' शीर्षक मौलिक कृतियाँ उपस्थित की हैं और दूसरी ओर प्राचीन साहित्य की शोध कर कुछ महत्वपूर्ण कृतियों का सम्पादन करने के अनन्तर उनके लिये आलोचनात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की रचनाओं में उनकी 'रानी केतकी की कहानी', 'नासिकेतोपाख्यान', 'हम्मीर रासो' तथा 'कबीर-ग्रंथावली' शीर्षक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

इसके पश्चात् हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रादुर्भाव हुआ। वह डॉ० श्यामसुन्दरदास के समकालीन आलोचक थे और उन्होंने भी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों प्रकार की आलोचना-पद्धतियों को अपनाया था। उन्होंने अपनी आलोचनाओं में बुद्धि और हृदय में समन्वय की स्थापना करते हुये कृति के सौष्ठव का सूक्ष्म विश्लेषण करने की प्रणाली को अपनाया है। शुक्ल जी ने आलोचना के अन्तर्गत लेखक की अन्तर्वृत्तियों के प्रतिफलन को महत्वपूर्ण स्थान दिया और इसी दृष्टि को लेकर उसके क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उन्होंने रचना के आन्तरिक तथा बाह्य पक्षों का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् विवेचना करने पर बल दिया। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई उनकी आलोचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सूर एवं जायसी की आलोचनाओं को उन्होंने उनके काव्यों के सङ्कलनों की भूमिकाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। तत्कालीन समीक्षकों ने इसे भी एक परम्परा के रूप में स्वीकार किया और शीघ्र ही भूमिकाओं के रूप में आलोचनाओं का प्राचुर्य हो गया, किन्तु मूल ग्रंथ के साथ-साथ इस प्रकार की आलोचना प्रणाली अधिक ग्राह्य न हो सकी और शीघ्र ही इसका अन्त हो गया।

शुक्ल जी ने 'मिश्रबन्धु विनोद' की परम्परा को आगे विकसित करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' की रचना की। आलोचना की स्वच्छता की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने में पूर्ण बन पड़ा है और यही कारण है कि आज भी अपने क्षेत्र में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। अपने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने रहस्यवाद के प्राचीन स्रोत का उल्लेख करते हुए अब तक की मान्यताओं और अपनी तत्सम्बन्धी धारणाओं को स्पष्ट

करने की चेष्टा की है, किन्तु श्रेष्ठ समीक्षा के दृष्टिकोण से यह रचना उनके अन्य ग्रंथों के समान प्रौढ़ रूप धारण नहीं कर सकी। हिन्दी में रस-विषयक आलोचना का अभाव लक्षित कर आचार्य शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें हमें उनके सूक्ष्म अध्ययन और गहन विश्लेषण का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

शुक्ल जी के परवर्ती आलोचक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना-कार्य से हिन्दी-आलोचना का स्वरूप पूर्णत: निश्चित हो गया और उसका एक निश्चित प्रवृत्ति के अनुसार विकास होने लगा। इस दृष्टि से हम उनके परवर्ती आलोचन-कार्य को 'प्राचीनतावादी समालोचना', 'छायावाद-समर्थक आलोचना' 'मार्क्सवादी आलोचना' और 'स्वतंत्र आलोचना-कार्य' के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

प्राचीनतावादी समालोचना

इस प्रकार की आलोचना नवीन काव्य-दृष्टि से समाविष्ट होने पर भी मुख्य रूप से प्राचीन आलोचना-पद्धति का समर्थन करती है। इसे विकसित करने वाले आलोचकों में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) बाबू गुलाबराय —

गुलाबराय जी ने 'काव्य के रूप', सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'साहित्य-समीक्षा' शीर्षक ग्रन्थों की रचना कर सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में महत्व-पूर्ण कार्य किया है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों की समीक्षा करते समय मुख्य रूप से भारतीय शैली का आधार ग्रहण किया है। आलोचना के प्रयोग-पक्ष की दृष्टि से उन्होंने अपने 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' शीर्षक ग्रन्थ में हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों के काव्य की अच्छी चर्चा की है। वैसे इस दिशा में उन्होंने अधिकतर स्फुट निबन्धों की रचना की है।

(२) पं० रामदहिन मिश्र—

मिश्र जी ने आलोचना के शास्त्रीय पक्ष को लेकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशा में उनके 'काव्य-दर्पण' और 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' शीर्षक ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उनकी आलोचना-शैली में गम्भीर विश्लेषण की प्रधानता रही है और उन्होंने प्राचीन काव्य-दृष्टि को पाश्चात्य काव्य-दृष्टि से समन्वित कर पर्याप्त मौलिक रूप में उपस्थित किया है।

(३) पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—

मिश्र जी ने आलोचना के व्यावहारिक पक्ष को लेकर मुख्य रूप से हिंदी के प्राचीन काव्य का विवेचन किया है। इस दृष्टि से उनके 'बिहारी की वाग्विभूति', 'महाकवि बिहारी', 'घनानन्द-ग्रन्थावली' और 'रस-खानि' शीर्षक ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उन्होंने 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य का भी मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। वैसे उन्होंने मुख्य रूप से हिंदी के रीतिकालीन काव्य का ही अध्ययन किया है।

छायावाद-समर्थक विवेचना

इस वर्ग के आलोचकों ने छायावाद का समर्थन करते हुए अपनी आलोचक दृष्टि में अधिकतर छायावादी सिद्धान्तों का समावेश किया है। इनमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प० शान्तिप्रिय द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र का मुख्य स्थान है, किन्तु छायावाद-युग की समाप्ति के पश्चात् इनके दृष्टिकोण में भी न्यूनाधिक अन्तर आ गया है। हमने सुविधा के लिए इन्हें एक वर्ग में रख लिया है। इनके आलोचन-कार्य का स्वरूप निम्नलिखित है :—

(१) पं० नंददुलारे वाजपेयी—

वाजपेयी जी छायावादी काव्य-सिद्धान्तों के प्रबल समर्थक रहे हैं। उन्होंने मुख्यतः व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में कार्य किया है, किन्तु उनके कुछ सैद्धान्तिक वक्तव्य भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। उनके आलोचना-ग्रन्थों में 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य: बीसवीं शताब्दी', 'महाकवि सूरदास', 'जयशंकर प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में आलोचना की प्राचीन और नवीन प्रणालियों को समन्वित रूप में उपस्थित किया है।

(२) श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—

श्रीयुत शान्तिप्रिय द्विवेदी हिंदी के आत्म-प्रधान आलोचक हैं। उनकी समीक्षाओं में उनका अपना व्यक्तित्व ही अविकासित प्रतिफलित रहता है। 'साम-यिकी' तथा 'सचारिणी' उनके दो सुन्दर निबंध संग्रह हैं। उनका अध्ययन अपनी एक पृथक् विशिष्टता लिये हुए है। भावुक होने के कारण उनकी आलोचना भी हिन्दी में सबसे पृथक् दृष्टिगत होती है। उनकी शैली पर किसी भी अन्य आलोचक की शैली का प्रभाव नहीं है। 'ज्योति विहग' में उन्होंने कवि-

पर सुमित्रानन्दन पंत के काव्य की समीक्षा छायावादी काव्य-दृष्टि के अनुसार अत्यंत सफल रूप में की है। उनकी आलोचना का प्रवाह प्रारम्भ से ही एक विशेष सूत्र से आबद्ध रहा है। उनकी 'हिन्दी-साहित्य-निर्माता' शीर्षक प्रारम्भिक कृति में हमें उसका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वही उनकी आधुनिक प्रौढ़तम रचनाओं में भी उसी रूप में स्थिर है। उनकी मान्यताओं में प्रायः बहुत थोड़ा ही अन्तर उपस्थित हुआ है।

(२) डॉ० नगेन्द्र—

नगेन्द्र जी ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों आलोचना-क्षेत्रों में यथेष्ट महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वह रसवादी आलोचक हैं। उनकी छाया-वाद-समर्थक आलोचना शैली के दर्शन मुख्य रूप से उनके 'सुमित्रानन्दन पन्त' शीर्षक ग्रंथ में होते हैं। उन्होंने अधिकतर सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में कार्य किया है, किन्तु व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनके 'आधुनिक हिन्दी-नाटक', रीति-काव्य की भूमिका और देव और उनकी कविता', 'साकेत: एक अध्ययन' तथा अनेक स्फुट निबन्धों का पर्याप्त महत्व है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में उनका 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' शीर्षक ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है। इस विषय पर उन्होंने कुछ स्फुट निबन्ध भी लिखे हैं।

उपर्युक्त अलोचकों के अतिरिक्त छायावादी आलोचकों में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय का नाम भी उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उनकी 'छायावाद और रहस्य-वाद', 'महाप्राण निराला' और तिवन्धिनी' शीर्षक रचनाएं पठनीय हैं। उनके अतिरिक्त स्वयं कविवर 'प्रसाद', 'निराला', पन्त तथा महादेवी ने भी अपनी काव्य-भूमिकाओं में छायावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है।

मार्क्सवादी आलोचना

इस आलोचना-पद्धति के समर्थक आलोचकों ने आलोचना में जनवादी और वस्तुवादी दृष्टिकोणों का समावेश करते हुए साहित्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के परिपालन को आलोचना की कसौटी माना है। इस वर्ग के आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा प्रमुख हैं। वह इस प्रकार की आलोचना के उग्र समर्थक हैं और उनकी रचनाओं में 'प्रेमचन्द', 'निराला' तथा प्रगति और परम्परा' मुख्य हैं। उनके पश्चात् प्रगतिवादी आलोचकों में श्री शिवदानसिंह चौहान और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में श्री चौहान ने अनेक स्फुट निबन्धों की रचना की है। श्री गुप्त की रचनाओं में 'हिन्दी की जनवादी काव्य-

प्रारम्भ मे ही धर्म-शास्त्र-तत्व की अभिव्यक्ति को भी प्रमुख स्थान प्रदान कि गया है।

सामान्यत हिन्दी-काव्य का प्रारम्भ सातवी शताब्दी से सिद्ध औ नाथ सम्प्रदाय के योगियों की काव्योक्तियो से माना जाता है, किन्तु उसे क्रमबद्ध रूप वीरगाथा काल में ही प्राप्त हो सका। इस काल की अर्वा सम्वत् १०५० से १३७५ तक है। राजनैतिक दृष्टि से अध्ययन करने पर ह देखते हैं कि इस युग में भारतवर्ष की सम्पूर्ण राज्य सत्ता पृथक् पृथक् इकाइ में बिखर गई थी और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र निर्बल एवं प्रतिभा विहीन हो लगे थे। बाह्य यवन-आक्रमणो तथा देश के नरेशो की पारस्परिक अनबन के कारण शासन सूत्र में शिथिलता आ गई थी और परस्पर व्यक्ति-चेतना का अ हो गया था। इस राजनैतिक दुरावस्था के कारण उस समय समाज की शान्ति और एकता भी छिन्न भिन्न हो गई थी। सामान्य जनता के बीच से राष्ट्रीय भावना क्रमश सकुचित और विलुप्त होती जा रही थी। विवाह एवं अन्य सास्कृतिक पर्व भी प्राय युद्ध के मूल कारण बन जाते थे। इस युग में शौर्य के साथ-साथ शृ गार को भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में प्रचुर प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। विलास के साधन दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अस्वस्थ होते जा रहे थे। यह उच्छृङ्खलता शासक वर्ग में विशेष रूप से प्रचलित थी। विप्लवात्मक वातावरण के कारण इस युग में धर्म का कोई निश्चित स्वरूप नहीं रहा था। नाथ एवं सिद्ध योगी उस समय विविध प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वासों को प्रचलित कर रहे थे। इस कारण जनता के पास धर्म-चिन्तन के किसी एक विषय का पूर्णत अभाव हो गया था।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

इस युग के कवि एवं कलावन्त प्राय राज्याश्रित होते थे। अत स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का उनके पास पूर्णत अभाव रहता था। आश्रयदाता के शोभन और अशोभन, प्रत्येक प्रकार के व्यापार का समर्थन करना उनका प्रमुख कर्तव्य कर्म था। इस प्रकार उत्तम साहित्य और श्रेष्ठ कला कृतियो के अभाव में जन साधारण को एक विशेष प्रकार के बौद्धिक ह्रास का सामना करना पड रहा था। वीरगाथाकालीन काव्य में वीर रस को मुख्य अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में 'उत्तमप्रकृति वीर उत्साह स्थायी भावक' कह कर इस रस के महत्व को स्पष्ट उद्घोषित किया है। ओजमूलक होने के कारण इस रस में मानव की साहसी वृत्तियो को

उद्बुद्ध करने की एक विशेष चेतना रहती है। इस दृष्टि से इस युग के काव्य में उत्साह-भाव का एक स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए था, किन्तु मानसिक कुण्ठाओं से युक्त होने के कारण चारण कवि उसे पूर्णत मुखर नहीं कर सके हैं।

वीरगाथा काल के काव्यों में कवियों ने प्राय अपने आश्रयदाता नरेशों के महत्व की स्थापना की ओर अधिक ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्राय. उनके व्यक्तिगत शौर्य अथवा उनकी सेनाओं की वीर-परम्परा का वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में अनेक स्थलों पर ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लघन कर अतिरंजित स्थापनाएँ भी की गई हैं। तत्कालीन परम्परा के अनुसार वीर-काव्यों द्वारा सेना को युद्ध के लिए उद्बोधित किया जाता था। युद्ध के लिए प्रयाण करने के उपरान्त यदि रण-क्षेत्र में भी सेना का कोई विशेष वर्ग मानसिक पराजय का प्रदर्शन करता था तो चारण-कवि अपने वीर-काव्य द्वारा उसे नूतन ओज प्रदान किया करते थे। इस सहज-प्रेषणीय काव्य-गुण से युक्त होने के कारण ही उस युग में वीर-काव्य की युद्ध में सहायक एक अनिवार्य उपकरण रूप में गणना की जाती थी।

यद्यपि वीरगाथा काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने पर सहसा यह प्रतीत होता है कि उस समय अनेक वीर-काव्यों की रचना की गई होगी, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस समय उनमें से अधिकांश यत्र-तत्र उल्लिखित होने पर भी अप्राप्य हैं। इतना होने पर भी उस युग के उपलब्ध काव्य-साहित्य का अध्ययन करने पर अभिव्यक्ति के अन्तर के कारण हम उसे निम्नलिखित दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं —

(i) प्रबन्ध काव्य :—

इस प्रकार की कृतियों में वीर-गाथाओं को प्रबन्धात्मक प्रणाली के अनुसार उपस्थित किया गया है। तत्कालीन उपलब्ध ग्रन्थों में इसी प्रकार की कृतियों की संख्या अधिक है। इनमें प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक सभी गुण न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध हो जाते हैं।

(ii) वीर-गीत .—

इस प्रकार की रचनाओं में कवियों ने अपने युग के इतिहास के उत्साह की सृष्टि करने वाले प्रकरणों को प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन वीर-गीतों में कथा-सूत्र की स्थिति निरन्तर वर्तमान रही है और प्रबन्ध-कृतियों से ये केवल इसी रूप में भिन्न रही हैं कि इनमें कथा के साथ-साथ गीति-तत्व की भी स्थिति रही है।

धारा' और 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक दृष्टि' महत्वपूर्ण हैं। इन दोनो आलोचको का दृष्टिकोण पर्याप्त सन्तुलित रहा है।

स्वतन्त्र आलोचना-कार्य

वर्तमान युग में अनेक आलोचको ने स्वतन्त्र रूप में भी आलोचना-कार्य किया है। इस प्रकार के आलोचको में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान सर्वप्रमुख है। शुक्ल जी के बाद के हिन्दी-आलोचको में उनका सर्वप्रमुख स्थान है। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति का गहन अध्ययन किया है। अत उनकी आलोचना-पद्धति पर इन दोनो की गहरी छाप मिलती है। उनकी उपलब्ध रचनाओं में 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिन्दी-साहित्य का आदि-काल', 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'कबीर' और 'मध्यकालीन धर्म साधना' मुख्य हैं।

इस समय हिन्दी-आलोचना की प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है। शोध ग्रन्थो, इतर आलोचनात्मक ग्रन्थों, निबन्ध सकलनो, सम्पादित कृतियो तथा पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित लेखो के रूप में इस समय आलोचना के क्षेत्र में उपर्युक्त आलोचको के अतिरिक्त सर्व श्री धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा, प्रभुदयाल मीतल, कन्हैयालाल सहल, परशुराम चतुर्वेदी, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' आदि अन्य लेखको ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशा में सबसे अधिक महत्व साहित्य-शोध-सम्बन्धी ग्रन्थो का है, किन्तु उनके अतिरिक्त भी समय-समय पर मौलिक तथा उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित होती रहती हैं।

: २ :

हिन्दी का वीरगाथाकालीन काव्य

काव्य का प्रणयन और अध्ययन सहृदय की संवेदनशीलता पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति अपने समीपवर्ती वातावरण के प्रति आकर्षण का अनुभव कर विभिन्न सामाजिक अनुभूतियो को जितनी ही तीव्रता के साथ ग्रहण करता है वह काव्य के सृजन में उतना ही अधिक सफल हो सकता है। इसी प्रकार पाठक भी काव्य का उपयुक्त रसास्वादन केवल तभी कर पाता है जब उसकी चेतना अपने चतुर्दिक् पूर्णतः सजग हो। इस तथ्य का निकट परिचय प्राप्त करने के अनन्तर ही कोई व्यक्ति सफल कवि बन सकता है। यद्यपि यह अनुभूति-ग्रहण कोई नितान्त सरल कार्य नही है, तथापि काव्य की सहज रसात्मकता से प्रेरित होकर प्रत्येक भाषा में इस साधना की ओर अग्रसर होने वाले प्राणी विद्यमान रहते हैं। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक भाषा के साहित्य में प्रारम्भ में कविता का ही सृजन हुआ है।

काव्य-रचना को विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से किसी एक सीमा में आबद्ध नही किया जा सकता। मानवानुभूति के विस्तार के साथ-साथ कविता के वर्ण्य विषयो का भी स्वाभाविक विस्तार होता जाता है, तथापि सामान्यतः प्रत्येक भाषा के प्रारम्भिक काव्य में वीर रस और शृंगार रस का प्राधान्य रहता है। इसका कारण यह है कि काव्य का प्रारम्भ आदिम जातियो के मध्य में होता है। इन जातियो का जीवन शौर्य और प्रेम पर आधारित रहता है। अतः भावाभिव्यक्ति करते समय भी ये इन्ही दोनो जीवन-धाराओ से सम्बद्ध घटनाओ अथवा भावो का चित्रण करती हैं। प्रारम्भ में इस शौर्य और प्रेम की अभिव्यक्ति लोक काव्य के माध्यम से होती है और कालान्तर में इन्हे भाषागत साहित्य में स्थान प्राप्त हो जाता है। किसी विशिष्ट भाषा की अपनी पृथक् प्रवृत्तियो के कारण इस नियम में अन्तर भी आ सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी-काव्य का उदाहरण ही सर्वाधिक अवलोकनीय है। भारत में आध्यात्मिक संस्कृति के प्राधान्य के कारण हिन्दी-काव्य में शौर्य और प्रेम के अतिरिक्त

यद्यपि यह सत्य है कि इस युग के कवि प्राय अपने आश्रयदाता नरेशों के साथ युद्ध-स्थल में जाकर विविध समर-वृत्तियों का प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा पर्याप्त परिचय प्राप्त करते थे, तथापि सूक्ष्म निरीक्षण और उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा के अभाव में वे वीर-भावों का गहन अध्ययन तथा विवेचन उपस्थित करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार तत्कालीन काव्यों में से अधिकांश में वीर रस का पूर्ण स्फुरण नहीं हुआ है और वे केवल रस की स्थिति का आभास ही उपस्थित कर पाते हैं। यद्यपि इन कवियों के समक्ष मौलिक काव्य-रचना के लिए पर्याप्त अवसर वर्तमान थे, तथापि वे अपनी भावनाओं को वीर रस के शौर्य-प्रकर्ष से पूर्णत वेष्टित नहीं कर सके। इतना होने पर भी उस युग के काव्यों में मन को प्रभावित करने की शक्ति अवश्य वर्तमान रही है। इन काव्यों को सामान्यत 'रासो' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है और इस सम्बन्ध में प्राप्त होने वाली विविध मान्यताओं में से तत्कालीन कवि नरपति नाल्ह का अन्तर्साक्ष्य ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने इस शब्द की व्युत्पत्ति के संकेत 'रसायण' शब्द की ओर किए हैं।

वीरगाथा काल की काव्य कृतियों में 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हा-खण्ड' अथवा 'परमाल रासो' प्रमुख हैं। खेद है कि काल के प्रभाव से इस युग की अनेक कृतियाँ या तो सर्वथा नष्ट हो गई हैं अथवा अप्राप्य हैं। इन सभी काव्यों का वस्तु-संघटन मूलत एकान्त वैयक्तिक आधार पर हुआ है अर्थात् इनमें किसी व्यक्ति-विशेष के उत्कर्ष-साधन के वर्णन का ही प्रयास सन्निहित है। यही कारण है कि इनमें राष्ट्रीय भावनाओं की स्वस्थ अभिव्यक्ति का प्राय अभाव ही रहा है। उस समय आधुनिक युग में प्राप्त होने वाले मुद्रण सम्बन्धी विविध साधनों में से कोई साधन भी ज्ञात नहीं था। अत कालान्तर में उस युग की सभी महत्वपूर्ण काव्य-रचनाएँ शनैः शनैः लुप्त होने लगीं और प्रयत्न करने पर भी राज्य द्वारा पुरस्कृत काव्यों तक की रक्षा नहीं की जा सकी। इसके फलस्वरूप इस युग के अवशिष्ट काव्यों की स्थिति भी पूर्णत स्थायी नहीं रह सकी और उनमें निम्नलिखित कारणों से प्रचुर प्रक्षिप्त अंशों का समावेश हो गया।

(1) महत्वाकांक्षा की प्रवृत्ति :—

प्रत्येक व्यक्ति अपने यश के प्रसार के लिए चिन्तातुर तथा प्रयत्नशील रहता है। स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर प्राय मनुष्य इस दिशा में अनुचित

साधनों को ही ग्रहण किया करता है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वीरगाथा-कालीन ग्रन्थों में वर्णित नरेशों के परवर्ती शासकों ने अपनी कीर्ति लिप्सा के मोह में उनका पुनर्लेखन कराया और उनके आदेशानुसार प्रतिलिपि उपस्थित करने वाले कवियों ने उनमें अपने आश्रयदाताओं की वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उनके राजकीय गौरव को भी समाविष्ट कर दिया। ऐसा करते समय देश काल विषयक परिसीमाओं की भी पूर्ण उपेक्षा कर दी गई अर्थात् यह भी ध्यान नहीं रखा गया कि वर्णित परवर्ती शासक के राज्य काल का मूल ग्रन्थ में वर्णित नरेश के राज्य-काल से सामंजस्य स्थापित कर लिया जाए। इस असावधानी के कारण इन काव्यों का अध्ययन करते समय शोधकर्ता को अनेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। यह प्रवृत्ति 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हा खण्ड' नामक काव्यों में सर्वाधिक मात्रा में लक्षित होती है।

(ii) जीविकोपार्जन में सहायता —

वीरगाथा काल में काव्य-सृजन को एक वंशगत विभूति के रूप में ग्रहण किया जाता था और कवि कर्म प्रायः वंशानुगत हुआ करता था। अतः उपर्युक्त रासो ग्रन्थों के रचयिताओं के वंशजों ने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने की इच्छा से उनमें उनकी विरुदावली का भी समावेश कर दिया। मानव दुर्बलताओं के कारण सम्बद्ध नरेशों ने अपने आश्रित कवियों को ऐसा करने से वर्जित भी नहीं किया। इस यशोगान के अतिरिक्त इन कवियों ने प्रसिद्ध ग्रन्थों में अपने कतिपय स्वतन्त्र छन्दों को भी यत्र तत्र समाविष्ट कर दिया। यह प्रवृत्ति 'खुमान रासो' तथा पृथ्वीराज रासो में विशेष रूप से प्राप्त होती है।

(iii) प्रयोगातिरेक से भाषा परिवर्तन —

भाव क्षेत्र की भांति कला-क्षेत्र में भी वीर-गाथा युग के काव्यों में प्रक्षिप्त सामग्री को लक्षित किया जा सकता है। इस दृष्टि से इन काव्यों की भाषा किसी-किसी स्थान पर विशेष चिन्तनीय हो गई है। जन साधारण में प्रचलित होने के कारण इनकी भाषा में पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो गया है। परवर्ती कवियों के अतिरिक्त जनता ने भी अपनी रुचि के अनुसार इन काव्यों की भाषा में यथेष्ट परिवर्तन कर लिया। यह प्रवृत्ति भाषा विज्ञान में वर्णित मुख-सुख की प्रणाली पर आधृत रही है अर्थात् किसी काव्य का स्मृति के आधार पर गान करते समय सामाजिकों द्वारा विस्मृत शब्दों के स्थान पर तुरन्त ही अन्य शब्दों का प्रयोग कर लिया जाता था। यह प्रवृत्ति 'आल्हा खण्ड' नामक काव्य में अधिक व्यापक स्तर पर उपलब्ध होती है।

(iv) प्रतिलिपिकर्ता की असावधानी :—

मुद्रण सुविधा के अभाव में वीर-काव्यों को या तो स्मृति के आधार पर सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता था अथवा नरेशों एवं धनी व्यक्तियों द्वारा उनकी प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत कराई जाती थीं। प्रतिलिपि करते समय किसी शब्द को न पढ़ सकने पर उसे किसी भिन्न रूप में लिखना भी एक साधारण सी बात थी। अतः प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण भी इन काव्यों में भाषा विषयक त्रुटियाँ उपलब्ध होती हैं।

प्रमुख वीर-काव्य

वीरगाथा काल में प्राप्त होने वाले सभी काव्य प्रायः किसी न किसी नवीन धारा की ओर संकेत करते हैं। इन सभी काव्यों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है और एक ही विषय-वस्तु को लेकर दो अथवा दो से अधिक समानान्तर रचनाएँ उपस्थित करने का कार्य तनिक भी नहीं हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में हम केवल वीर-काव्यों की ही चर्चा कर रहे हैं। अतः उनसे पृथक् किसी भी अन्य धारा को लेकर लिखे गए काव्यों को लक्षित कर यह बात प्रतिपादित नहीं की गई है। आगे हम इस युग के वीर-काव्यों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

खुमान रासो

इस काव्य की रचना कविवर दलपति विजय ने की थी। इसे काव्य-रचना की प्रबन्धात्मक प्रणाली के अनुसार उपस्थित किया गया है। इसमें कवि ने चित्तौड़ राज्य के खुमाण (द्वितीय) नामक नरेश के व्यक्तित्व, उनके युग की विविध परिस्थितियों और उनके युद्धों का वर्णन उपस्थित किया है। इसकी मूल प्रति इस समय उपलब्ध नहीं होती। इसके रचयिता के सम्बन्ध में भी अभी कोई निश्चय नहीं हुआ है। कुछ व्यक्ति इस कृति को ब्रह्मभट्ट नामक कवि द्वारा लिखित मानते हैं और कुछ ने कृतिकार को दलपति विजय मानते हुए उसके 'दौलत विजय' नामक प्रचलित नाम की ओर भी संकेत किया है। रस समष्टि की दृष्टि से इसमें वीर रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। कला-तत्वों की दृष्टि से इसमें भाषा के प्रक्षिप्तता के कारण अनेक रूप मिलते हैं और गाहा अथवा गाथा तथा छप्पय नामक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इस कृति में प्रक्षिप्त सामग्री का अत्यधिक समावेश हुआ है और इसकी इस समय प्राप्त होने वाली प्रतियों में महाराणा प्रताप के युग तक का वर्णन प्राप्त होता

पृथ्वीराज रासो

इस काव्य की रचना कविवर चन्दवरदाई ने की थी। यह हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है और इसमें महाराज पृथ्वीराज के शौर्य का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। इस प्रकार इसमें वीर रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है, शृंगार रस को प्रमुख सहायक रस के रूप में समाविष्ट किया गया है और इतर रस गौण सहायक रसों के रूप में स्वीकृत किए गए हैं। इसमें वीर रस और शृंगार रस के अनेक उत्कृष्ट छन्द प्राप्त होते हैं। काव्य शिल्प की दृष्टि से भी यह अपनी अन्य समकालीन रचनाओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बन पड़ा है। यद्यपि कविवर चन्दवरदाई भी काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ नहीं थे, किन्तु उन्होंने विभिन्न कलात्मक उपकरणों का निश्चय ही अधिक सजगता के साथ प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उनके काव्य में प्राप्त होने वाली कतिपय अनियमितताओं के लिये प्रक्षिप्त सामग्री के बाहुल्य को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का सर्वाधिक विशालकाय महाकाव्य है। अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ निश्चय ही वर्तमान प्रतियों की तुलना में पर्याप्त संक्षिप्त रहा होगा, किन्तु इस समय प्रक्षेपाधिक्य के कारण इसके आकार का अवांछित विस्तार हो गया है। तथापि यह ग्रन्थ अपने युग की साहित्य-धारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व उपस्थित करता है और इसमें वीर रस के अनेक उन्मेषप्रद चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रक्षेप-मिश्रण के कारण इसके भाव-तत्व और कला-तत्व, दोनों की ही शुद्धता को हानि पहुँची है। इसके प्रक्षिप्त अंशों के निराकरण के लिए इस समय अनेक विद्वान् प्रयत्नशील हैं, किन्तु अनेक वर्षों के परिश्रम के अनन्तर भी इसकी किसी प्रामाणिक प्रति का अभी सम्पादन नहीं किया जा सका है। आगे हम इसमें से शृंगार रस और वीर रस का एक-एक उदाहरण उपस्थित करते हैं —

मनहुँ कला ससि भान,
कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस ससि ता समीप,
अम्रित रस पिन्निय॥

बिगसि कमल स्रिग भ्रमर,
नैनु खजन मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब,
मोति नष सिष अहिघुट्टिय॥

छनपति गयन्द हरि हस गति,
विह बनाय सचै सचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय,
मनहुँ काम कामिनि रचिय॥
—(शृंगार रस, 'पद्मावती समय' से उद्धृत)

× × × ×

उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनो बीजु भट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन,
रँगन मगन भइ शोन धर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि,
हुरेउ रग नव रत्त वर॥
—(वीर रस, 'पद्मावती समय' से उद्धृत)

आल्हा-खण्ड

यह एक वीरगीतात्मक काव्य-कृति है और इसकी रचना कालिंजर राज्य के नरेश परमाल के राजकवि जगनिक ने की थी। इस काव्य में राजा परमाल के आल्हा और ऊदल नामक सामन्तो के असीम शौर्य का अत्यन्त ओजस्वी और सजीव भाषा में वर्णन किया गया है। इसमें ओज गुण की आदि से अन्त तक अत्यन्त श्रेष्ठ व्याप्ति रही है। वीर-गाथा काल के काव्यो में से इस काव्य को जनता के मध्य सर्वाधिक प्रचलन प्राप्त हुआ और यही कारण है कि इसमें प्रक्षिप्त अशो का सर्वाधिक समावेश उपलब्ध होता है। यह काव्य भारतवर्ष के उत्तरी भाग में सर्वाधिक प्रचलित रहा है और इसमें राजस्थानी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, खडी बोली, उर्दू तथा अन्य अनेक भाषाओ के सम्मिश्रित रूप की प्राप्ति होती है। इसके अनुकरण पर अनेक व्यक्तियो ने समय समय पर शौर्य तथा अन्य भावो के वर्णन का भी प्रयास किया है।

यद्यपि यह सत्य है कि 'आल्हा-खण्ड में सर्वाधिक प्रक्षेप-मिश्रण हुआ है और उसका मूल रूप कहीं भी उपलब्ध नही होता, तथापि यह काव्य एक विशेष साहित्यिक महत्व से युक्त है। इसम विभिन्न चरित्रो के शौर्य के स्पष्टीकरण की ओर विशप ध्यान दिया गया है और चरित्राकन की दृष्टि से यह अपने युग के काव्यो में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ बन पडा है। 'पृथ्वीराज रासो' की भाति इस काव्य की प्रामाणिक प्रति के सम्पादन की भी आज नितान्त आवश्यकता है।

इस काव्य में वीर रस का जो व्यापक प्रकर्ष उपलब्ध होता है उसे सूक्ष्मतः इसके निम्नलिखित मूल मन्त्र की परिधि में आबद्ध पाया जा सकता है —

बारह बरिस लै कूकर जीएँ,
औ तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ,
आगे जीवन के धिक्कार॥

अन्य कृतियाँ

उपर्युक्त प्रमुख कृतियों के अतिरिक्त वीरगाथा काल में कतिपय अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इस दृष्टि से वीर-काव्यों में कविवर भट्ट केदार द्वारा लिखित 'जयचन्द प्रकाश' और श्रीधर कवि-कृत 'रणमल छन्द' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त मधुकर कवि द्वारा लिखित 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका' और शार्ङ्गधर-कृत 'हम्मीर रासो' का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु ये दोनों ही ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इनमें से 'हम्मीर रासो' के कतिपय छन्द उपलब्ध होते हैं और उनके आधार पर इस काव्य की श्रेष्ठता और रस सौष्ठव का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वीर रस के अतिरिक्त इस युग में अमीर खुसरो का विविधतापूर्ण मुक्तक काव्य भी उपलब्ध होता है, किन्तु उसका उल्लेख इस निबन्ध के विषय से बाहर है।

सामान्य विश्लेषण

वीरगाथा युग के काव्यों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें भावनाओं को आदर्शात्मक प्रणाली के अनुसार उपस्थित करने पर अधिक बल दिया गया है। इस युग के काव्य में शौर्य के अतिरंजित चित्रों को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और इस अतिरंजना के मूल में आदर्श कथन की स्पष्ट स्थिति रही है। यद्यपि इस काल के काव्य में वीररसानुकूल वातावरण के यथार्थ अंकन का प्रयास करते हुए यत्र-तत्र आश्रयदाता नरेश के दुर्बल व्यक्तित्व की भी चर्चा की गई है, किन्तु ऐसा अत्यन्त अल्प स्थानों पर हुआ है और इस प्रकार के वर्णनों में स्पष्ट कथन के स्थान पर व्यंजनात्मक कथन की प्रणाली का ही आश्रय लिया गया है।

वीरगाथाकालीन काव्य रचनाओं की प्रामाणिक प्रतियाँ आज प्रायः उपलब्ध नहीं होतीं। इस युग के 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका' आदि अनेक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो आज सर्वथा अनुपलब्ध हैं और जिनका शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों

आदि में उल्लेख-मात्र मिलता है। इस सामग्री के अभाव में तत्कालीन साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन करना निश्चय ही दुरूह हो जाता है और किसी भी कृति के विषय में प्रामाणिक वक्तव्य देते समय किसी न किसी व्यावहारिक कठिनाई का अनुभव अवश्य करना पड़ता है। आज सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस युग के साहित्य-विकास का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए हम सर्वप्रथम व्यापक विश्लेषण के आधार पर उपलब्ध काव्यों के प्रामाणिक संस्करण उपस्थित कर काव्यालोचन के मार्ग को प्रशस्त करें। प्रक्षेप-बाहुल्य होने पर भी यह निर्विवाद है कि इन काव्यों का हमारे साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है और इन्होंने कालान्तर में वीर रस में काव्य-प्रणयन की ओर कवियों का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट किया है। हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण करने के अतिरिक्त इन्होंने अनेक परवर्ती रचनाओं को प्रभावित किया है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि राजस्थान का अमर वीर-काव्य इसी युग की रचनाओं के आधार पर पल्लवित हुआ है।

काव्य-तत्व निरूपण की दृष्टि से वीरगाथायुगीन काव्य में कला-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व के सुष्ठु निरूपण पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि इस युग के कवियों ने शैली अथवा अभिव्यञ्जना के क्षेत्र में किसी प्रकार की मौलिक उद्भावना करने का श्रेय नहीं लिया है। तथापि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस युग के काव्य का अनन्य महत्व है। इस दृष्टि से वीर-काव्यों की डिंगल भाषा और सिद्ध तथा नाथ कवियों की मिश्रित भाषा निश्चय ही शोध की सामग्री उपस्थित करती हैं। यही डिंगल भाषा आज राजस्थानी भाषा का रूप धारण कर एक विस्तृत भू प्रदेश पर अधिकार कर भारतवर्ष की एक प्रादेशिक भाषा बन गई है और इसके साहित्य का अत्यन्त स्वतन्त्र रीति से सुष्ठु विकास हुआ है।

वीर-काव्य के उपरान्त वीरगाथा युग के *आध्यात्मिक काव्य* का भी विशेष महत्व है। इस युग में गोरखनाथ, जालन्धर, कणेरी, चर्पट एवम् बालानाथ आदि कवियों ने काव्य के माध्यम से योग के विषय में अपनी भावनाओं को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। ये व्यक्ति मूलतः कवि न होकर योगी थे। अतः इनकी काव्योक्तियों में कला-तत्वों का उपयुक्त समावेश नहीं हो पाया है। इन्होंने अपने काव्य में अनुरागपरक अथवा भोगमूलक योग-साधना करने वालों के प्रति तीव्र व्यंग्य उपस्थित किए हैं। इन कवियों ने वीर-काव्य से पृथक् एक भिन्न भाव-धारा का सम्यक् और व्यापक विकास प्रस्तुत किया है। भक्ति काल की ज्ञानाश्रयी निर्गुण-भक्ति शाखा के कवियों की अधिकांश भावनाओं

के बीज भी यहाँ वर्तमान रहे हैं। तथापि मानव-जीवन और विश्व-स्वरूप के विषय में अनिश्चित दृष्टिकोण के कारण इस युग में आध्यात्मिक भाव शनैः शनैः हठयोग और प्रपचपूर्ण भोगवाद में परिणत होते जा रहे थे। इसी प्रकार शौर्य के साथ साथ अतिशय विलास को जन्म देने वाली काम-वृत्ति के प्रमुख होने के कारण इस युग में मन की शुद्ध और स्वस्थ्य अभिव्यक्ति में सहायक उपकरण भी शिथिल हो गये थे। इतना होने पर भी वीर-गाथा युग का काव्य सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। हमारा मत है कि इस युग के काव्य में यदि सूक्ष्म अन्तर्चेतना का अभाव रहा है तो इसकी विलोम परिस्थितियों को जन्म देने वाली स्थूल भौतिक तत्वों की अतिवादी अभिव्यक्ति भी वहाँ नहीं हुई है।

: ३ :

कबीर के काव्य का अध्यात्म-पक्ष

महात्मा कबीर भक्ति काल की निर्गुण-भक्ति-शाखा की ज्ञानाश्रयी धारा के प्रवर्तक कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में अध्यात्म-दर्शन और समाज-दर्शन की अभिव्यक्ति की है। उनकी विचार-धारा इन दोनों ही के प्रति समान रूप से प्रेरित रही है और उन्होंने दोनों ही के क्षेत्रों में नितान्त स्वस्थ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनके काव्य का अध्यात्म-पक्ष अत्यन्त समृद्ध है और उन्होंने भक्ति-क्षेत्र में अनेक हृदयग्राही भावों की अवतारणा की है। भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की अपेक्षा उन्होंने उसके रहस्यवादी पक्ष की चर्चा की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में उनकी भक्ति-पद्धति पर विचार करते समय हम उनके काव्य के रहस्यवाद-तत्व पर पृथक् से प्रकाश डालेंगे।

भक्ति-पद्धति

भारत में भक्ति को संस्कृति का अंग माना गया है और भारतीय रम्भ से ही ईश्वर की भक्ति में मग्न रहा है। प्रेम से समाविष्ट भाव से भगवान् के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है, किन्तु यह र ज्ञान के एकाकी स्वरूप से आवृत्त नहीं होना चाहिए और भक्त के भक्ति के अतिरिक्त कोई भी अन्य अभिलाषा नहीं होनी चाहिए। कबीर भक्ति काल की ज्ञानाश्रयी निर्गुण-भक्ति-शाखा के प्रतिनिधि । उन्होंने स्वामी रामानन्द के सम्पर्क में आकर भक्ति की वास्तविकता । प्राप्त किया था। इससे पूर्व उन्होंने योग-सम्प्रदाय की प्रवृत्तियों के अपने काव्य में योग-मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था, इसके उपरान्त उन्होंने योग के स्थान पर भक्ति को लेकर काव्य-

रचना की। उन्होंने भक्ति को मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रमुख साधन माना है। यथा —

वह कबीर सका नही।
भगत मुकुति गति पाई रे॥

राम-विषयक भक्ति

महात्मा कबीर निर्गुण एव निराकार राम के उपासक थे। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होने अपने प्रारम्भिक काव्य में अवतारवाद का समर्थन कर सगुण राम की उपासना की थी और यत्र-तत्र अनेक पौराणिक संकेत भी उपस्थित किये थे, तथापि मूल रूप में उन्होने निर्गुण राम को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होने निर्गुण राम के लिए ही 'हरि', 'गोविन्द', 'राम' और 'माधव' आदि पौराणिक नामो का प्रयोग किया है। कबीर ने स्वामी रामानन्द से दीक्षा ग्रहण की थी। इस कारण प्रारम्भ में उनके समान उन्होने भी राम की उपासना की ओर ध्यान दिया था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि पण्डित-वर्ग ने राम को मन्दिर की सकुचित सीमा में आबद्ध कर दिया है और वह केवल उनकी स्वार्थ-पूर्ति का ही साधन रह गया है तब उन्होंने राम के सगुण स्वरूप का त्याग कर दिया और उनके काव्य में राम निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रतीक बन गये। इसी कारण उन्होने एक स्थान पर कहा है —

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

कबीर के अनुसार वह परब्रह्म नाम, रूप और क्रिया से रहित है और वह इस विश्व की माया के बल पर सृष्टि करता है। ईश्वरीय ज्ञान के उत्तम अधिकारी व्यक्ति शम दम, नियम और सयम के अभ्यास द्वारा जीवितावस्था में ही ब्रह्म के चेतन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कबीर ने ऐसे व्यक्तियों के लिए आत्म-साधना को श्रेष्ठ माना है, किन्तु जिन व्यक्तियो मे यह सामर्थ्य नही होती, उनके लिए उन्होंने निर्गुण राम की उपासना का विधान किया है। यथा —

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति जानि न जाई॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कबीर ने परब्रह्म की उपासना का उपदेश देते समय साधक को बारम्बार यह स्मरण दिलाया है कि यह उपासना सगुण अवतार की न होकर निर्गुण राम की है। उनके अनुसार निर्गुण

राम पुराणों में प्रतिपादित राम से भिन्न हैं और उन्हें खोजने के लिए आत्म-दर्शन पर्याप्त है। उन्होंने अपने राम को सत्व, राजस और तमस आदि गुणों से अतीत मानकर उनके इस गुणातीत रूप को ही स्पष्ट किया है। उनकी साधना का रूप क्रमशः विकसित होते हुए अन्त में उस स्थिति को पहुंच गया था जब उन्होंने निर्गुण और सगुण के भेद को छोड़कर ईश्वर के सर्वव्यापी और अजर-अमर रूप के प्रतिपादन को ही अपना ध्येय मान लिया था —

निर्गुण सर्गुण ते परे, तहाँ हमारा ध्यान।

कबीर के भक्ति-सिद्धान्त

'नारद-भक्ति-सूत्र' में भक्ति के जिन विभिन्न रूपों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें वस्तुतः एक ही भक्ति भाव की स्थिति रही है और आश्रय-भेद से ही उसके अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। कबीर ने भक्ति के इन विविध अंगों तथा भेदों को उपलक्षण-मात्र माना है। उनके अनुसार भक्ति में अनन्यता और आत्मसमर्पण को ही मुख्य स्थान प्राप्त रहना चाहिए। इस विषय में उन्होंने भारतीय साधना-पद्धति के अनुकूल ईश्वर को पति के रूप में ग्रहण करते हुए उनके प्रति आत्म-समर्पण कर दिया है। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद की संकीर्णता का विरोध करते हुए ईश्वर के लिए सभी प्राणियों की सम स्थिति का प्रतिपादन किया है। उन्होंने भक्ति की पूर्णता के लिए उसमें कामना के त्याग को अनिवार्य माना है और माया-पाश में आबद्ध करने वाले विभिन्न कर्म-काण्डों के स्थान पर साधक के लिए निष्काम भाव की भक्ति के आश्रय को ही उचित माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है —

जब लगि भक्ति सकाम है,
तब लगि निष्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिले,
नि कामी निज देव॥

कबीर ने अपनी भक्ति-पद्धति में माधुर्य-भाव का मिश्रण कर उसे अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान किया है। उनके अनुसार ईश्वर-भक्ति का प्रेम तत्व समग्र संसार में व्याप्त है, किन्तु साधक रस सिक्त साधना के अभाव में उसका परिचय प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। उन्होंने ईश्वर की पति रूप में कल्पना कर जीवात्मा को संयोगिनी अथवा विरहिणी नारी के रूप

में चित्रित किया है। इस दाम्पत्य भाव से अनुप्राणित होने के कारण उनकी भक्ति में तन्मयता, अनन्यता और स्वाभाविकता का विशेष समावेश हो गया है। साधक की आत्मा परमात्मा के ध्यान में तल्लीन हो जाती है और प्रेम के रस का शान्त भाव से अनुभव करती रहती है। प्रिय के विरह में इस साधनामग्न आत्मा की स्थिति नितान्त करुण हो जाती है और उस समय वह अपनी हार्दिक व्यथा को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है —

तलफै विन बालम मोर जिया !
दिन नहिं चैन, रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया ॥

कबीर ने भक्ति में स्वाभाविकता के महत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे आडम्बर-शून्य रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके अनुसार पूजा-पाठ, व्रत-धारण, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा और मसजिद में नमाज पढ़ना आदि भक्ति के बाह्य साधन हैं और उनमें मिथ्या की स्थिति रहती है। उन्होंने अपने भक्ति-मार्ग में हिन्दू-मुसलिम सिद्धान्तों के अनुकूल भावनाओं का समावेश करने के लिए निर्गुण भाव से युक्त एक ऐसे भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया जिसे दोनों ही धर्म ग्रहण कर सकते थे। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी भक्ति में माधुर्य भाव को भी समाविष्ट किया, किन्तु वास्तव में उनका ध्येय ज्ञानयुक्त भक्ति का प्रतिपादन करना ही था।—

ज्ञान सपूरन ना भया, हिरदा नाहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का, रंग नहीं ठहराय ॥

कबीर ने अपनी भक्ति में हठयोग और रहस्यवाद के सिद्धान्तों का भी मिश्रण किया है। उनकी भक्ति-पद्धति पर अद्वैतवाद और सूफी मत के सिद्धान्तों का भी स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। यही कारण है कि उन्होंने जहाँ एक ओर भक्ति के क्षेत्र में माया का विरोध किया है वहाँ दूसरी ओर प्रेम-तत्व के समावेश द्वारा भक्ति को माधुर्य-युक्त रखा है। उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को रहस्यवाद के अंचल में पोषण प्रदान करते हुए माया के दुष्प्रभावों का निवारण करने के लिए गुरु के ज्ञानोपदेश के महत्व की चर्चा करते हुए साधक के लिए उसको प्राप्त करना नितान्त आवश्यक माना है। उन्होंने गुरु द्वारा निर्दिष्ट आत्म-साधना की पद्धति का अवलम्बन लेकर ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होने का परामर्श दिया है। इस विधि के अनुसार ईश-दर्शन को सहज सम्भव मानते हुए उन्होंने साधना के बाह्य स्वरूप का अवलम्बन लेने का स्पष्ट

विरोध किया है। हिन्दी के निर्गुणवादी कवियों की परम्परा में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है और इस धारा के सभी परवर्ती कवियों ने प्रायः उनके भक्ति सिद्धान्तों का किसी न किसी रूप में अनुकरण किया है। निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय में साधनात्मक रहस्यवाद के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप को ज्ञात करने के जिस प्रयत्न का विधान रहता है उसकी महात्मा कबीर के काव्य में पूर्ण प्रतिपत्ति उपलब्ध होती है।

कबीर का रहस्यवाद

संसार-दर्शन के उपरान्त जब व्यक्ति सांसारिक नश्वरता और भयात्मक बन्धनों के कारण विरक्ति का अनुभव कर ईश-दर्शन के लिए विकल होकर साधना के मार्ग पर अग्रसर होते हुए अनेक प्रयत्नों के उपरान्त ईश्वरीय आलोक का परिचय प्राप्त करता है तब उसके उस रहस्य-भेदन को ही 'रहस्यवाद' की संज्ञा प्रदान की जाती है। रहस्यवाद का परिचय प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुओं का तिरस्कार करते हुए साधक आत्म-निरीक्षण द्वारा अन्तिम सत्य से तादात्म्य स्थापित करते हुए शान्ति की प्राप्ति करता है। इस प्रकार श्रवण, मनन और साक्षात्कार के उपरान्त साधक को परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है और वह निश्चिन्त होकर सतत रूप से ईश्वर के प्रति अनुरक्त रहता है। कबीर से पूर्व हिन्दी में रहस्यवादी काव्य का लगभग अभाव ही था। कबीर ने साधुओं से ज्ञान-चर्चा करते हुए रहस्यवाद का मिश्रित रूप में प्रतिपादन किया है और अद्वैतवादी हठयोग और सूफीमत का समन्वित रूप उपस्थित किया है। दुर्बोध होने पर भी उनके रहस्यवाद में एक विशेष आकर्षण की स्थिति रही है।

आत्म विश्वास एवं स्वतन्त्र प्रवृत्ति से परिपूर्ण कलाकार कबीर का काव्य एक गम्भीर तथा असाधारण हृदय का वास्तविक प्रतिबिम्ब है। उनकी रहस्यवादी विचार-धारा द्वारा आत्मा की उज्ज्वलता एक ऐसे प्रौढ रूप में प्रस्फुटित हुई है जिसके प्रति उनके सभी परवर्ती कवियों ने आभार-प्रदर्शन किया है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उनके रहस्यवादी काव्य से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे हैं। कबीर ने अपने रहस्यवादी काव्य में लौकिक तत्वों के माध्यम से अलौकिक की अनुभूति कराने वाली प्रणाली को अपनाया है और इस प्रकार रहस्यवाद में प्रेम के निस्सीम प्रवाह की स्थिति को आवश्यक माना है। उन्होंने रहस्यवाद को साधनात्मकता के साथ-साथ भावनात्मकता से भी युक्त रखा है और साधक को रहस्यानुभूति के उपरान्त निरन्तर जागृति और विकासशीलता की ओर उन्मुख रहने का संदेश दिया है। उन्होंने अपने रहस्य-

वादी काव्य में रूपक का आधार ग्रहण करते हुए सासारिक तत्वों के माध्यम से अपनी रहस्यानुभूति का स्पष्टीकरण किया है। उनके सभी रूपक प्राय. विशेष आकर्षक और सुन्दर बन पड़े हैं तथा उनमें सूक्ष्मता का भी विशिष्ट मात्रा में समावेश हुआ है। तथापि उनकी रूपक-योजना में कहीं कहीं भाव-विरोध और अव्यवस्थित विचार धारा के भी दर्शन होते हैं। इसी प्रकार उनके रूपकों में जटिलता का भी अत्यधिक समावेश हुआ है।

कबीर ने अपने रहस्यवाद को मुख्य रूप से साधनात्मक रूप में उपस्थित किया है। उन्हें भ्रमण एव सत्सग से प्रेम था और इसी कारण हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफी मत का उन्हें पर्याप्त परिचय था। उनकी रहस्यवादी विचार-धारा में इन दोनों का पूर्ण समन्वय प्राप्त होता है। अद्वैतवाद का प्रवर्तन श्रीयुत शकराचार्य ने किया था। उनके अनुसार आत्मा और परमात्मा की अभिन्न स्थिति में माया भिन्नत्व का सचार करती है और काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह उसके पाँच शस्त्र हैं। कबीर ने भी दृश्य जगत् को मायात्मक मानते हुए माया की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का गहन तथा विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने माया के रूप की पर्याप्त भर्त्सना की है:—

कबिरा माया बेसवा, दोनूं की एक जात।
आवत को आदर करैं, जात न पूछैं बात॥

इस प्रकार कबीर ने माया को सासारिक भोग-विलास में लीन करने वाली प्रवृत्ति कहा है। उनके अनुसार माया के उस प्रभाव को नष्ट करने के लिए ज्ञानार्जन की आवश्यकता होती है और ज्ञान के द्वारा माया का विनाश कर अन्तस्थ और बाह्यस्थ ब्रह्म का सयोग कराया जा सकता है। इसके लिए, उन्होंने घट का रूपक उपस्थित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले जलपूर्ण घट का बाह्य स्वरूप नष्ट होने पर उसके अन्दर और बाहर का जल मिल कर एकाकार हो जाता है उसी प्रकार माया के नष्ट होने पर जीव और ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तथा ब्रह्म के साक्षात्कार से साधक की स्थिति ब्रह्म के समान ही हो जाती है'—

ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।

घट के इस रूपक का कबीर ने इस प्रकार कथन किया है:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत गुनहु गियानी॥

अद्वैतवाद की भाँति कबीर के रहस्यवाद पर सूफी मत का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सूफियों के अनुसार आत्मा और परमात्मा के संयोग में मार्ग के अनन्य अवरोधों के निवारण के लिए गुरु द्वारा पथ-निर्देशन अत्यन्त आवश्यक है। कबीर ने गुरु की इस महत्ता को स्थान-स्थान पर स्वीकार किया है। यथा —

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

सूफियों की द्वितीय प्रधान विशेषता उनके द्वारा किया गया प्रेम का निस्वार्थ चित्रण है। सूफीमत में ईश्वर की पत्नी-रूप में कल्पना करते हुए उसके प्रति भिन्न भिन्न प्रकार से प्रेमी साधक के प्रेम की प्रतीति करायी जाती है, परन्तु कबीर ने इस विषय में सूफी प्रणाली का परित्याग कर भारतीय पद्धति को ही अपनाया है। उन्होंने वेदों में प्रतिपादित भगवान् के पितृत्व एवम् मातृत्व को मान्यता प्रदान करते हुए अपने काव्य में ईश्वर का इन दोनों रूपों में चित्रण किया है। यथा —

(१) बाप रामराया अब हूँ सरन तिहारी।
(२) हरि जननि मैं बालक तेरा।

इस प्रकार कबीर ने भगवान् के इन दोनों रूपों का प्रतिपादन करने के अतिरिक्त भारतीय माधुर्य-पद्धति के अनुकूल उनके पति-रूप की भी कल्पना की है। उन्होंने साधक को प्रेमिका के रूप में चित्रित करते हुए साध्य ईश्वर को चिर-प्रतीक्षित प्रेमी के रूप में उपस्थित किया है। प्रेम के संयोग पक्ष को उन्होंने अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है और उसके लौकिक स्वरूप में अलौकिक का सुन्दर समन्वय किया है। यथा —

नयनन की करि कोठरी,
पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै,
पिय को लीन रिझाय॥

कबीर ने प्रेम के वियोग-पक्ष का चित्रण करते हुए आत्मा की परमात्मा के प्रति विरह-मग्न दिखाया है। उनके ईश्वरीय विरह-सम्बन्धी पदों में करुणा और मार्मिकता का सम्मिश्रित रूप प्राप्त होता है। यथा —

या तन जारौं, मसि करौं, लिखौं राम को नाँव।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाँव॥

कबीर के रहस्यवाद के उपर्युक्त अध्ययन से यह प्रतिपादित हो जाता है कि संसार की क्षणिकता एवं नश्वरता का अनुभव कर साधक अनन्त साधना के द्वारा परमात्मा से अभिन्नत्व की स्थिति को स्थापित करता है। ईश्वर से चिरकाल तक वियुक्त रहने के उपरान्त जब साधक को फल की प्राप्ति होती है तब वह ईश्वर के साक्षात्कार से स्वयं भी ब्रह्म रूप हो जाता है। कबीर ने इस भाव को इस प्रकार प्रतिपादित किया है —

> तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं।
> वारी फेरि बलि गई, जित देखौं तित तूं॥

ईश्वर से इस तादात्म्य की स्थापना होने पर साधक को पूर्णानन्द की प्राप्ति हो जाती है। इस आनन्द का शरीर और मन, दोनों पर समान प्रभाव पड़ता है और साधक को अतीव उल्लास की अनुभूति होती है। शान्ति, प्रेम और सत्य से परिपूरित आत्मा अपने इस एकीकरण के अनुभव को व्यक्त करना चाहती है परन्तु मूक व्यक्ति के समान वह इस कार्य में सर्वथा असमर्थ ही रहती है। यथा —

> कहु कबीर गूंगे गुड़ खाइया,
> पूछे तो किआ कहिअ ?

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कबीर के रहस्यवाद में आत्मानुभूति को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपनी रहस्यवादी विचार धारा में नाम साधना को प्रमुख स्थान प्रदान करते हुए स्थान-स्थान पर हठयोग से भी प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए रूपक-योजना द्वारा अपने रहस्यवादी काव्य को सूक्ष्म, किन्तु जटिल रूप में उपस्थित किया है। सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन्होंने प्रेम तत्व और सर्ववाद के सिद्धान्तों के समन्वय द्वारा अपने रहस्यवाद को मधुरता भी प्रदान की है। तथापि उनके काव्य में साधनात्मक रहस्यवाद का प्रतिपादन ही मुख्य रहा है। उनके परवर्ती कवियों में जायसी ने इस साधनात्मक रहस्यवाद से संकेत लेते हुए सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का रम्य प्रतिपादन किया है। कबीर और जायसी के रहस्यवाद का मूल अन्तर यही है कि कबीर का रहस्यवाद भावात्मकता से युक्त होने पर भी प्रधानतः साधनात्मकता की ओर उन्मुख है और जायसी के रहस्यवाद में भावात्मकता की मुख्य स्थिति होने पर भी कहीं-कहीं साधनात्मकता का समन्वय हुआ है।

महात्मा कबीर के काव्य का महत्व इस कारण अधिक है कि उन्होंने

प्रतिष्ठित होते हुए भी उत्कृष्ट भावों को अभिव्यक्त किया है। भारतीय धर्म साधना का विशद ज्ञान न होने पर भी उन्होंने धर्म के विषय में अपनी विभिन्न प्रतिक्रियाओं के आधार पर एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में जिन उक्तियों को उपस्थित किया है वे साधारणतः कटु प्रतीत होने पर भी एक विशिष्ट आदर्श से युक्त रही हैं। वास्तव में उन्होंने अपने सिद्धान्तों की स्थापना करने से पूर्व अपने समकालीन समाज की धार्मिक स्थिति का यथाविधि अध्ययन किया है और यही कारण है कि उनके काव्य में एक रस-सिद्ध हृदय के उत्कृष्ट प्रतिबिम्ब के दर्शन होते हैं। उनके काव्य का अध्ययन करने पर हमें सहसा अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि चासर (Chaucer) की निम्नलिखित उक्ति का स्मरण होता है :—

> For out of the old fields,
> as men saithe,
> Cometh al this new corne
> fro yere to yere;
> And out of old bookes,
> in good faithe,
> Cometh al this new science
> that men lere.

अर्थात् ' मनुष्यों का कथन है कि पुरातन भूमि-खण्डों से प्रति वर्ष यह समग्र नवीन अन्न उत्पन्न होता है और निश्चय ही इसी प्रकार पुरातन ग्रन्थों से ही मनुष्यों के लिए पठन-योग्य समस्त नवीन ज्ञान उद्भूत होता है।"

यद्यपि वर्तमान युग में सामाजिक के समक्ष अनेक ज्ञान-धाराएं हैं, तथापि उपर्युक्त उक्ति के आधार पर हम सहर्ष यह कह सकते हैं कि वर्तमान युग समाज एवं धर्म के क्षेत्रों में महात्मा कबीर का भी ऋणी है।

: ४ :

पद्मावत : एक अध्ययन

'पद्मावत' महाकवि जायसी की अमर कृति है। इससे पूर्व लिखी गई प्राय: सभी हिन्दी-रचनाएँ प्रक्षिप्त अंशों से युक्त हो गई हैं, किन्तु यह कृति प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होती है। इस प्रकार यह हिन्दी का प्रथम काव्य है जिसकी आलोचना करते समय आलोचक को प्रामाणिकता के विवाद में नहीं उलझना पड़ता। तथापि इसकी विभिन्न प्रतियों में पाठ-भेद की स्थिति अवश्य रही है। इस काव्य की आलोचना की ओर सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ध्यान आकृष्ट हुआ था और तदनन्तर डॉ० माताप्रसाद गुप्त और श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पद्मावत' के उत्कृष्ट संस्करण उपस्थित किए हैं। सम्पादन-कार्य की भाँति ही 'पद्मावत' और जायसी की काव्य-धारा के विषय में आलोचन-कार्य भी पर्याप्त सीमा तक हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में हम जायसी के काव्य की समग्रत: आलोचना न कर केवल प्रेम-गाथा काव्य-परम्परा में 'पद्मावत' के स्थान और 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता का क्रमश: विश्लेषण करेंगे।

प्रेम-गाथा-काव्य-परम्परा

प्रेम-गाथा-काव्य से हमारा तात्पर्य उन काव्य-ग्रन्थों से है जिनकी रचना भक्ति काल की प्रेममार्गमयी निर्गुण शाखा के अन्तर्गत की गई थी। यद्यपि यह सत्य है कि इस युग की प्रेम-गाथाओं का पूर्ण रूप हमें वीरगाथा काल में लिखित मुल्ला दाऊद की 'चन्दावन' शीर्षक काव्य-रचना में ही मिल जाता है, तथापि इसका उपयुक्त विकास भक्ति काल में ही सम्भव हो सका। 'चन्दावन' इस समय अप्राप्य है, तथापि हिन्दी के प्रेम-गाथा-काव्य का आदि ग्रन्थ उसे ही मानना चाहिए।

'चन्दावन' के उपरान्त हिन्दी में कुछ अन्य प्रेमगाथा-काव्यों की रचना सम्भव हो सकती है, किन्तु उनकी प्रतियाँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। जायसी ने 'पदमावत' के 'राजा-गढ-छेका-खण्ड' में प्रेमियों के दृष्टान्त देते हुए निम्न-

निमित्त काव्य द्वारा अपने से पूर्व के पांच प्रेम-गाथा-काव्यों स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती—का उल्लेख किया है :—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा ।
सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥
मधू पाछ मुग्धावति लागी ।
गगन-पूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ ।
मृगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साधे कुँवर खंडावत जोगू ।
मधुमालती कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरसर साधा ।
उषा लागि अनिरुध बर बाँधा ॥

हिन्दी के भक्तिकालीन प्रेम-गाथा-काव्य के रचना-क्रम में जायसी के 'पद्मावत' नामक प्रबन्ध काव्य से पूर्व कुतुबन ने 'मृगावती' और मझन ने 'मधुमालती' नामक काव्यों की रचना की थी। 'पद्मावत' के उपरान्त उसमान ने 'चित्रावली' और नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावत' नामक दो उल्लेखनीय प्रबन्ध काव्यों की रचना की। इन सभी कृतियों में 'पद्मावत' को ही शीर्ष स्थान प्राप्त है। इस काव्य में कथानक का अधिक विस्तार उपलब्ध होता है और इसी कारण प्रेम-गाथा-काव्य-धारा की समग्र विशेषताएँ इसमें सहज रूप से समाविष्ट हो गई हैं। इस प्रकार इसे सहज ही एक युग-प्रवर्तक महाकाव्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है और इसके रचयिता को इस काव्य-धारा का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। इसी समर्थ काव्य-प्रतिभा से युक्त होने के कारण जायसी अपनी परम्परा के सभी परवर्ती कवियों को प्रभावित करने में सफल हो सके हैं।

'पद्मावत' से इतर अन्य प्रेम-गाथा-काव्यों में 'मृगावती' और 'मधुमालती' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। 'मृगावती' में चन्द्रनगर के राजकुमार तथा कचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-गाथा का सरल और आकर्षक रीति से वर्णन हुआ है। उसमें प्रेम-मार्ग में त्याग और कष्ट-सहन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। 'मधुमालती' में कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का मार्मिक तथा हृदयहारी वर्णन किया गया है। इसमें मनोरंजन के लिए तिलस्म और जादू के दृश्यों का समावेश हुआ है और 'मृगावती' की अपेक्षा इसमें कल्पना को अधिक विशद स्थान प्राप्त हुआ

है। यद्यपि इस समय यह कृति खण्डित अवस्था में प्राप्त होती है, तथापि मौलिकता से युक्त होने के कारण इसका महत्व अपने आप में अक्षुण्ण है। इन दोनों के अतिरिक्त जायसी के परवर्ती कवियों की कुछ कृतियाँ भी उपलब्ध होती हैं। इन कवियों में उसमान ने 'चित्रावली', नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावत', शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' और कासिमशाह ने 'हंस जवाहिर' नामक उल्लेखनीय काव्यों की रचना की। इन रचनाओं में 'चित्रावली' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम का कवि-कल्पित वर्णन किया गया है। इसकी रचना 'पद्मावत' के अनुसरण पर हुई है और इसमें विरह और षट्ऋतु का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त प्रेम-गाथा काव्यों में सामान्यतः उन कथानकों को ग्रहण किया गया है जो हिन्दू-गृहों में परम्परा से प्रचलित हैं, किन्तु कवियों ने इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लिए हैं। इनमें हिन्दू देवी-देवताओं की घटनाओं को कथा में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए वर्णित किया गया है, किन्तु इस ओर किसी विशेष अनास्था अथवा आस्था के भाव उन्होंने प्रदर्शित नहीं किए हैं। इन काव्यों की रचना भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली के स्थान पर फारसी की मसनवी शैली के अनुसरण पर हुई है। इसी कारण इनमें सर्ग-क्रम के स्थान पर विशिष्ट प्रसंगों के आधार पर कथा-भाग किए गए हैं। इसीलिए इनमें कथारम्भ से पूर्व ईश्वर-वन्दना, पैगम्बर-स्तुति, और तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा का विधान रहता है। इन काव्यों की रचना हिन्दू-धर्म का सामान्य ज्ञान रखने वाले मुसलमान कवियों ने की है। यही कारण है कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को मिश्रित करने का प्रयास करने पर भी ये कवि मुस्लिम संस्कृति को ही अधिक सफलता से अभिव्यक्त कर सके हैं।

प्रेम-गाथा-काव्यों में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम को अभिव्यजित किया गया है और आत्मा को पति तथा परमात्मा को पत्नी के रूप में उपस्थित किया गया है। सूफी सन्तों ने आत्मा एवं परमात्मा के मध्य शैतान (माया) को बाधा-स्वरूप मानते हुए गुरु की सहायता से उसे पराभूत कर साध्य को प्राप्त करने की विधि का वर्णन किया है। इन काव्यों में वियोग शृंगार को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इस वियोग का उद्भव प्रायः किसी राजकुमारी के चित्र-दर्शन अथवा रूप-गुण-श्रवण से होता है और अनेक कठिनाइयों के अनन्तर संयोग की स्थिति सम्भव हो पाती है। इस वियोग-वर्णन की पृष्ठभूमि में भी साधक और ईश्वर का चिरकालिक विरह वर्तमान है।

इन काव्यों की रचना सरल अवधी भाषा में की गई है और छन्द-योजना की दृष्टि से इनमें चौपाई तथा दोहा नामक छन्दों को स्थान प्राप्त हुआ है। प्रबन्धात्मक रीति से लिखित होने के कारण इनमें कथानक की रमणीयता के साथ-साथ सम्बन्ध-निर्वाह पर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इतना होने पर भी गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में इस धारा के कवि अपनी रचनाओं में विशेष कला-विदग्धता का परिचय नहीं दे सके हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक ही था, क्योंकि इसके सभी रचयिता मुसलमान थे और इस कारण उनसे हिन्दी-भाषा के विशिष्ट ज्ञान और उसकी शास्त्रीय परम्पराओं से अवगत होने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी। इतना होने पर भी इन सभी कवियों ने कला के क्षेत्र में एक निश्चित परम्परा के अनुसार चलने का प्रयास किया है। इन्होंने काव्य-रचना के लिए केवल अवधी भाषा का प्रयोग किया है और छन्द-प्रयोग करते समय केवल चौपाई तथा दोहा नामक छन्दों को ग्रहण किया है। इसी प्रकार रूपक-तत्व के समावेश द्वारा प्रेम-गाथा-काव्यों में शैली को भी एक-रूप ही रखने का प्रयास किया गया है। अलंकार-प्रयोग के विषय में इस धारा के कवियों का कोई विशेष आग्रह नहीं रहा है और वे उनके काव्य में स्वतः समाविष्ट हुए हैं।

हिन्दी के प्रेम-गाथा-काव्य की परम्परा में महाकवि जायसी के 'पद्मावत' को शीर्ष स्थान प्राप्त है। इस काव्य में प्रेमगाथा-काव्यों की उपर्युक्त सामान्य विशेषताओं का श्रेष्ठ समन्वय हुआ है और कवि ने इनके अतिरिक्त निम्नलिखित रीति से अपनी मौलिकता का भी प्रदर्शन किया है :—

(i) कथा-विन्यास :—

जायसी ने अपने सहयोगी कवियों की भाँति 'पद्मावत' के कथानक को कल्पना पर आधारित न रखते हुए उसके उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता का भी समावेश किया है। चित्तौड़ गढ़ से सम्बन्धित होने के कारण उनके काव्य के कथानक की ओर हिन्दुओं का स्वाभाविक आकर्षण था। इतिहास और कल्पना के मिश्रण द्वारा उसे सजीव रूप में उपस्थित करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(ii) प्रबन्ध-निर्वाह :—

'पद्मावत' में प्रबन्ध-सौष्ठव का निर्वाह करने में जायसी को प्रेमाश्रयी शाखा के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है और उन्होंने अपनी प्रेम-कथा को नागमती के मार्मिक वियोग-वर्णन द्वारा विशेष आकर्षक रूप में उपस्थित किया है।

(iii) भाव-योजना :—

जायसी के अतिरिक्त भक्ति काल के अन्य सूफी कवियों ने अपने काव्य में केवल कोमल भावनाओं को प्रकट किया है, परन्तु जायसी ने लोक-दृष्टि से समन्वित होकर 'पद्मावत' में रति, शोक, उत्साह, क्रोध आदि विविध मानवीय भावनाओं का चित्रण करते हुए जीवन की अनेकरूपता का दिग्दर्शन कराया है।

(iv) कलात्मक उपकरण :—

काव्य के कला पक्ष की दृष्टि से भी 'पद्मावत' में भक्ति काल की अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस' के उपरान्त अवधी भाषा का संस्कार करने वाले अन्य काव्यों में 'पद्मावत' का ही प्रमुख स्थान है। भाषा के अतिरिक्त चित्र-सृष्टि, शैली-योजना और अलंकार-प्रयोग आदि अन्य कला-उपकरणों का भी 'पद्मावत' में सहज-सुन्दर समावेश हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी ने प्रेम-गाथा-काव्य-धारा की विभिन्न विशेषताओं का अपने 'पद्मावत' में उत्कृष्ट निर्वाह किया है। विचारों की सरल, स्पष्ट और विशद अभिव्यक्ति के कारण 'पद्मावत' का स्थान प्रेमगाथा-काव्य-परम्परा में सर्वोच्च रहा है। यही कारण है कि 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि के अप्रसिद्ध रह जाने पर भी 'पद्मावत' को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। प्रेमगाथा-काव्य की आलोचना करते समय भी आलोचकों की दृष्टि मुख्य रूप से 'पद्मावत' पर ही केन्द्रित रही है और स्वतन्त्र आलोचन-कार्य भी केवल उसी कृति के सम्बन्ध में हुआ है। यद्यपि अन्य प्रेमगाथा-काव्यों के स्वतन्त्र पर्यालोचन की भी आज अत्यन्त आवश्यकता है, तथापि इस स्थल पर हमारा प्रतिपाद्य इस धारा के काव्यों में 'पद्मावत' की विशिष्टता को प्रदर्शित करना ही है। आगे हम इस कृति के कथा-नियोजन में ऐतिहासिकता के निर्वाह पर विचार करेंगे।

'पद्मावत' की ऐतिहासिकता

भारतीय जनपदों में रानी पद्मिनी और हीरामन शुक से सम्बद्ध कथानक का विशेष प्रचार रहा है और साहित्यिक कृतियों में भी इसे पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। अवध प्रान्त में इस कथानक को अब भी यथेष्ट लोकप्रियता प्राप्त है। महाकवि जायसी ने इसी लोक प्रसिद्ध कथा का आधार ग्रहण कर अपने 'पद्मावत' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की है। कथानक को और भी प्रभाव-

वाली रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने उसमें ऐतिहासिकता का भी मिश्रण किया है। इतिहास से हमारा तात्पर्य उन घटनाओं के सकलित और क्रमबद्ध वर्णन से है जिन्हें प्रमाणों द्वारा सत्य सिद्ध किया जा चुका है। इस दृष्टि से 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता के परीक्षण के लिए 'आईने अकबरी' और टाडकृत राजस्थान के इतिहास से सहायता ली जा सकती है।

'पद्मावत' में ऐतिहासिकता के परीक्षण के लिए हम सुविधा के लिए उसके कथानक को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(i) पूर्वार्द्ध भाग :—

रत्नसेन की सिंहल-द्वीप-यात्रा और पद्मावती के साथ चित्तौड़ लौटने तक की आख्यायिका इस भाग के अन्तर्गत आती है।

(ii) उत्तरार्द्ध भाग :—

राघव चेतन के निष्कासन और पद्मावती के सती होने तक का कथानक इस भाग के अन्तर्गत आता है।

इनमें से पूर्वार्द्ध भाग की कथा लगभग कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। आगे हम 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता का घटनाओं, पात्रों तथा देश-काल के आधार पर पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

घटनाओं की ऐतिहासिकता

'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध में जायसी ने ऐतिहासिक कथानक का आधार ग्रहण किया है। इस विषय में उन्होंने जिन ऐतिहासिक सूत्रों से सहायता ली है उनका कर्नल टाड की खोजों तथा 'आईने अकबरी' में निम्नलिखित रूप है:—

(i) कर्नल टाड ने राजपूताने में रक्षित चारण-इतिहास के आधार पर रानी पद्मिनी की रूप-चर्चा से आकृष्ट दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण और उनके द्वारा चित्तौड़-नरेश भीमसेन को छल से बन्दी बनाने का उल्लेख करते हुए पद्मिनी द्वारा छल से पति को मुक्त कराने और अलाउद्दीन द्वारा किये गये द्वितीय आक्रमण में असफल होने पर पद्मिनी के सती होने की कथा दी है।

(ii) 'आईने अकबरी' में भीमसिंह के स्थान पर रत्नसिंह को चित्तौड़-नरेश कहते हुए अलाउद्दीन को द्वितीय आक्रमण में भी पराजित कराया गया है और सन्धि के लिए जाने पर रत्नसिंह की विश्वासघात से हत्या कराई गई

है। राग स्थानक को रनन टाड के कथानर के अनुसार ही उपस्थित किया गया है।

जायसी न पद्मावत के कथानक को काव्योचित सस्कार प्रदान करन के लिए उपयुक्त एतिहासिक तथ्यो म अपनी ओर से कुछ मौलिक परिवतन भी किए हैं। यथा —

(1) इतिहास के अनुसार अलाउद्दीन न चितौड-नरेश से सधि करते समय पद्मिनी की छाया को दपण में देखन की शत रखी थी, किन्तु जायसी न इसे एक आकस्मिक घटना के रूप में वर्णित करते हुए इसके स्थान पर चित्तौड नरेश द्वारा समुद्र से प्राप्त पाँच पदार्थों को अलाउद्दीन को प्रदान करने की शत रखी है। इस परिवतन का मूल कारण यह है कि रत्नसेन के समान वीर व्यक्ति का अपनी पत्नी की छाया को पर पुरुष के समक्ष उपस्थित करन के लिए सहमत होना कवि न नायक के लिए अगौरवमय माना है।

(11) जायसी न रत्नसेन को अलाउद्दीन के शिविर में बन्दी दिखान के स्थान पर उसे दिल्ली में बन्दी दिखाया है। इसके तीन कारण हैं —

(अ) कवि इस प्रकार से अधिक अवकाश काल का सयोजन कर पद्मावती के सतीत्व की मनोरम व्यजना उपस्थित करना चाहता था।
(ब) नागमती और पद्मावती के विरह सवेदन को स्पष्ट करन के लिए यह आवश्यक था।
(ज) इस अवकाश-काल में ही बालक बादल के क्षात्र-तेज और कम-कठोर व्यक्तित्व की दिव्य ममस्पर्शी अभिव्यक्ति उपस्थित करना कवि को इष्ट था।

पात्रगत एतिहासिकता

पद्मावत के पूर्वार्द्ध में रत्नसेन पद्मावती और नागमती प्रमुख पात्र हैं। आगे हम इन सभी के एतिहासिक अस्तित्व का परीक्षण करेंगे —

(1) रत्नसेन —

इतिहास में पदमावत के कथानक से सम्बद्ध चितौड-नरेश के 'भीमसी' और रतनसी नामक दो नाम मिलते हैं तथापि जायसी न आईने अकबरी के आधार पर रतनसी नाम को स्वीकार करते हुए अपने काव्य नायक को रत्नसेन की सज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार उन्होंने इतिहास का निर्वाह करते हुए रत्नसेन के व्यक्तित्व को लगभग इतिहास-सम्मत रूप में ही उपस्थित किया है। काव्य के नायक को ही इतिहास से भिन्न आधार पर उपस्थित करना स्पष्टत सर्वाधिक चिन्तनीय होता।

(ii) पद्मावती :—

इतिहास के अनुसार चितौड़-नरेश भीमसिंह अथवा रत्नसिंह की पत्नी का नाम पद्मिनी था, किन्तु जायसी ने उसे 'पद्मावती' के नाम से सम्बोधित किया है और 'पद्मिनी' को नायिका-भेद के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नायिका के अर्थ में ग्रहण कर पद्मावती को पद्मिनी की संज्ञा भी प्रदान की है।

(iii) नागमती :—

पद्मावती की सपत्नी नागमती के विषय में कोई पुष्ट ऐतिहासिक आधार प्राप्त नहीं होता, किन्तु लोक-कथानक में उसकी चर्चा निश्चित रूप से मिलती है। जायसी ने इसी जन-कथा का आधार ग्रहण कर नागमती के विरह का प्रशंसनीय वर्णन किया है।

'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध में अलाउद्दीन, राघव चेतन, गोरा, बादल और देवपाल प्रमुख पात्र हैं। इनकी ऐतिहासिक स्थिति इस प्रकार है :—

(i) अलाउद्दीन :—

अलाउद्दीन इतिहास-प्रसिद्ध खिलजी वंश से सम्बद्ध दिल्ली का नरेश है और कवि ने प्रायः उसके चरित्र को इतिहास के अनुकूल ही उपस्थित किया है।

(ii) राघव चेतन :—

राघव चेतन का व्यक्तित्व कल्पित है। कवि ने 'राघव दूत सोई सैतानू' कह कर रूपक-निर्वाह के लिए उसे शैतान के रूप में उपस्थित किया है और उसकी प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए उसके द्वारा वेद-विरुद्ध मार्ग से यक्षिणी की सिद्धि का वर्णन किया है।

(iii) गोरा और बादल :—

गोरा और बादल, दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और कवि ने उनके शौर्य का इतिहास-प्रसिद्ध रीति से ही वर्णन किया है। इन दोनों की क्षत्रियोपयोगी वीरता का वर्णन करने में कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है और इनका चरित्रांकन पूर्णतः ओजस्वी शैली में हुआ है।

(iv) देवपाल :—

जायसी ने कुम्भलनेर-नरेश देवपाल के चरित्र की स्वतन्त्र सृष्टि की है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलाउद्दीन के समय में कुम्भलनेर नामक किसी राज्य का अस्तित्व ही नहीं था। अतः देवपाल से सम्बद्ध कथा पूर्णतः कल्पित ही है।

उसके चरित्र की इस कल्पित योजना का कारण यह है कि कवि राजा रत्नसेन को अलाउद्दीन की अपेक्षा देवपाल द्वारा समाप्त करा कर रत्नसेन की मर्यादा की रक्षा करना चाहता था। कथानक की उत्कृष्टता की रक्षा के लिए नायक के व्यक्तित्व को निरन्तर उच्च स्तर पर स्थापित रखने का कवि को निरन्तर ध्यान रहा है।

देशगत ऐतिहासिकता

(1) सिंहल द्वीप :—

पद्मावत के पूर्वार्द्ध भाग में कवि ने सिंहल द्वीप को नगर के रूप में चित्रित किया है और इस विषय में उनके देश-वर्णन का आधुनिक सिंहल से साम्य स्थापित नहीं होता। सिंहल द्वीप के वर्तमान इतिहास के अनुसार वहाँ राजपूतों के किसी वंश का कभी भी अस्तित्व नहीं रहा है और यह मत भी असंगत प्रतीत होता है कि रत्नसेन ने वर्तमान सिंहल द्वीप में जा कर विवाह-सम्बन्ध किया होगा। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू जनता ने मध्य युग में विदेश गमन को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। यदि हम इस 'सिंहल' की स्थिति को यथार्थ मानें तो इसका अस्तित्व राजपूताना अथवा गुजरात में ही हो सकता है।

वास्तव में पद्मावती का सिंहलद्वीप से संबंध होना गोरखपंथी साधुओं की कल्पना पर आधृत है और कवि ने रूपक के सम्यक् निर्वाह के लिए इसे कथा में स्थान दिया है। योगियों के समुदाय में 'सिंहल द्वीप' और 'कामरूप' को पद्मिनी नारियों का गढ़ माना जाता है और इसी कारण उन्होंने सिद्धि-प्राप्ति के लिए इन स्थानों में निवास करने का वर्जन किया है। जायसी ने सम्भवत. इसी प्रसिद्धि से प्रभावित होकर एक ओर तो सिंहल द्वीप में पद्मिनी पद्मावती की स्थिति मानी है और दूसरी ओर सिंहल-गमन करते समय मार्ग में आने वाली बाधाओं का चित्रण किया है। 'पदमावत' में प्राप्त होने वाली साधना-पद्धति और योग-विषयक पदावली से भी कवि पर नाथ-सम्प्रदाय का यही प्रभाव लक्षित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी द्वारा वर्णित सिंहल द्वीप पूर्णत अनैतिहासिक है और उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध रानी पद्मिनी का योगियों की सिंहल द्वीप वाली प्रसिद्ध पद्मिनी नारी से एकीकरण कर दिया है।

(ii) इतर देश :—

'पदमावत' के उत्तरार्द्ध में उल्लिखित चित्तौड़ और दिल्ली प्रदेश पूर्णत ऐतिहासिक स्थल हैं और वर्तमान काल में भी उनकी वही भौगोलिक स्थिति है।

विश्लेषण

'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध भाग की कथा इतिहास पर आधारित न होने पर भी जन-साधारण के बीच में प्रचलित कहानी पर आधृत है, तथापि कथा का यह भाग पूर्णतः काल्पनिक नहीं है। वास्तव में जायसी ने 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में कल्पना और इतिहास का मनोरम संगठन उपस्थित किया है और इस प्रकार चित्तौड़ गढ़ की चिर प्रसिद्ध कथा को विशेष सजीवता प्रदान कर दी है। 'पद्मावत' के कथानक में इतिहास के अतिरिक्त कल्पना के समावेश के निम्नलिखित कारण हैं :—

(i) कथानक में गति-आयोजन :—

कवि ने सिंहल-द्वीप-सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का समावेश इसी गति-सृष्टि के लिए किया है और इस वृत्त द्वारा साधना के मार्ग में उपस्थित होने वाली समग्र बाधाओं का रम्य संकेत उपस्थित किया है। बादल और उसकी पत्नी का सवाद भी इसी प्रकार का है।

(ii) नायक के व्यक्तित्व का उत्कर्ष :—

अलाउद्दीन से की गई संधि में पद्मावती के प्रतिबिम्ब-प्रदर्शन के स्थान पर समुद्र द्वारा प्राप्त वस्तुओं का प्रदान नायक की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के विचार से ही कराया गया है। इसी प्रकार रत्नसेन को अलाउद्दीन की अपेक्षा देवपाल से पराजित दिखा कर भी कवि ने नायक की मर्यादा की रक्षा की है।

(iii) रस सृष्टि :—

नागमती के व्यक्तित्व की कल्पना करते समय कवि का यही उद्देश्य रहा है और रत्नसेन की अनुपस्थिति में नागमती की उत्कट विरह वेदना द्वारा उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार रस की उत्कृष्ट सृष्टि की है।

(iv) रूपक-निर्वाह :—

राघव चेतन के चरित्र की कल्पना जायसी ने रूपक के उपयुक्त निर्वाह के लिए की है और उसे 'शैतान' के रूप में उपस्थित करते हुए साधक के मार्ग में अवरोध उपस्थित करने वाला कहा है। इसके अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व की कल्पना का अन्य कोई विशेष कारण लक्षित नहीं होता।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जायसी ने 'पद्मावत' की रचना करते समय केवल कवि-कल्पना का आश्रय न लेकर इतिहास की शोध करने

का भी श्रम किया है। यद्यपि उनके काव्य में ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्ण अभि
व्यक्ति नहीं हुई है, किन्तु इसके लिए केवल जायसी को ही उत्तरदायी ठहरान
उचित नहीं है। वस्तुतः उस युग में इतिहास को स्पष्ट करने के लिए अधि
श्रम ही नहीं किया जाता था और उसे स्पष्टतः वर्तमान युग जैसा निश्चि
स्वरूप प्राप्त नहीं हो पाया था। अतः यह सम्भव है कि कविवर जायसी प्रयत्
करने पर भी इससे अधिक ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करने में असफल र
हा। अस्तु, इतना निश्चित है कि अपनी विविध विशेषताओं के कारण 'पद्मावत
को प्रेम-गाथा-काव्य-परम्परा में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है।

: ५ :

हिन्दी का भ्रमरगीत-काव्य

'भ्रमरगीत' से हमारा तात्पर्य सामान्यतः उस मुक्तक गेय पदावली से है जिसमें भ्रमर को सम्बोधित करते हुए गोपियों ने कृष्ण और उद्धव के प्रति प्रति-व्यंग्यात्मक और तिक्त वचनों की अभिव्यक्ति की है। इस विषय में और अधिक विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इसकी पृष्ठभूमि में अवस्थित वस्तु-स्थिति और वातावरण का निकट परिचय प्राप्त कर लें। इस दृष्टिकोण से 'भ्रमरगीत' के मूल कथानक की ओर उन्मुख होने पर हम देखते हैं कि व्रज-भूमि में गोपियों के समीप भ्रमर का आगमन उस अवसर-विशेष पर होता है, जब वे उद्धव की प्रतिवादी ज्ञान-वृत्ति से असन्तुष्ट होकर उन्हें अपनी अनुरागमूलक प्रेम-भावना से अवगत कराने का प्रयत्न कर रही थी और उद्धव इसके प्रति किसी असम्बद्ध व्यक्ति के समान अधिक ध्यान नहीं दे रहे थे। उस समय प्रलाप के वशीभूत जीव के समान उद्धव केवल विरतिमूलक ज्ञान-योग के प्रतिपादन का प्रयास कर रहे थे। भ्रमर के यथावसर पद-सचरण से गोपियों को विपयान्तर द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का माध्यम प्राप्त हो गया और उन्होंने उसे सम्बोधित करते हुए नाम-भेद से ही उद्धव के प्रति अनेक तीक्ष्ण व्यङ्ग्य-वचनों का प्रयोग किया और इस प्रकार उसे स्पष्टतः निरुत्तर कर दिया।

इस विषय में प्रचलित जन-श्रुति के अनुसार भ्रमर ने केवल वायु-मण्डल में ही भ्रमण न किया था, अपितु वह राधा के चरण युगल को कमल-कोष-वत् ग्रहण कर उनके समीप ही अटूट आकर्षण के फल स्वरूप अविरत रूप से गुंजन-रत हो गया था। प्रारम्भ में गोपियों को उसकी यह क्रिया प्रकृत व्यवहार के अनुकूल ही प्रतीत हुई थी और उन्होंने इसकी ओर किसी गम्भीर रीति से कोई विशेष ध्यान न दिया था, किन्तु गुंजन के नैरन्तर्य से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह अविरत ज्ञान-प्रकाशन करने वाले ब्रह्मयोगी उद्धव का प्रतीक

है। उन दोनों के नि.शेष वचनों और परिस्थिति से असम्पृक्त व्यवहार को समान आधार पर अवस्थित देखकर उन्होंने यह निर्णय उचित रूप में ही लिया और प्रकारान्तर से उद्धव की मनसा पर इसका अत्यन्त गम्भीर और व्यापक प्रभाव भी वांछित मात्रा में ही पड़ा।

'भ्रमरगीत' के कथानक का प्रथम निदर्शन हमें 'श्रीमद्भागवत' में उपलब्ध होता है। वहाँ इस प्रकरण को अत्यन्त ऋजु-सरल अभिव्यक्ति प्रदान की गई है और काव्य के आधार को प्राय. पृथक् रख दिया गया है। वस्तुत. उसमें वर्णनात्मकता का अंश कुछ अधिक मात्रा में गृहीत है और इसका मूल कारण यही है कि वहाँ इस प्रकरण का स्वतन्त्र रूप में उल्लेख नहीं हुआ है। उसमें इसका समावेश केवल प्रसंगगत रूप में हुआ है और विस्तार के लिए अधिक अवकाश अथवा सुविधा वहाँ नहीं है। परवर्ती कवियों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' के इस अध्याय को एकत्रित सीमाओं से हटा कर स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्रदान की और काव्यत्व के सम्मिश्रण द्वारा इसमें एक मधुर चेतना का उद्भावन किया।

सूर का 'भ्रमरगीत'

'श्रीमद्भागवत' के भ्रमरगीत-विषयक आख्यान को सर्वप्रथम महाकवि सूरदास ने ही मौलिक रूप में उपस्थित किया। मूल ग्रन्थ से अनुवाद की प्रवृत्ति का अवलम्ब भी उन्होंने लिया अवश्य है, किन्तु इस प्रकार के स्थल उनके काव्य में कम ही हैं और अधिकांशतः उन्होंने इस प्रसंग को नवीन रूप में उपस्थित करने का ही प्रयास किया है। अपने 'भ्रमरगीत' में उन्होंने न केवल कृष्ण और गोपियों के विरह तथा उद्धव के उद्बोधन की ही चर्चा की है, अपितु कृष्ण के मातृ-वियोग और यशोदा के पुत्र-वियोग का भी उल्लेख किया है। उनके समकालीन कवि इस विषय का सर्वथा विस्मरण कर बैठे हैं और इस ओर कोई विशेष ध्यान उन्होंने नहीं दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि यशोदा ने भ्रमर को सम्बोधित करते हुए अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं किया और इस दृष्टिकोण से 'भ्रमरगीत' में उनके आख्यान को कवि-समुदाय ने स्वीकृत नहीं किया, तथापि इस विषय की पूर्ण उपेक्षा भी उचित नहीं थी। सूर ने इसका ध्यान रख कर अपनी मनोवैज्ञानिकता का ही परिचय दिया है।

'सूर सागर' में भ्रमरगीत-विषयक प्रकरण की यह आयोजना महाकवि सूरदास की अपनी मौलिक विशेषता है। इस सम्पूर्ण अध्याय का प्रणयन उन्होंने मूल ग्रन्थ के दशम स्कन्ध के पूर्व-भाग के अन्तर्गत किया है। यद्यपि

उन्होंने सूर कृति की रचना करते समय 'श्रीमद्भागवत' को आधार-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत अवश्य किया है, तथापि कथा-क्रम के संयोजन में स्थान-स्थान पर उनकी नवीन उद्भावनाएँ भी स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। वास्तव में उन्होंने इस आधारभूत कृति के प्रतिपाद्य का स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है तथा मूल से सहायता ग्रहण करते हुए भी काव्य की रसात्मकता का व्यापक स्तर पर संयोजन करने के लिए उसमें यत्र-तत्र संशोधन उपस्थित किया है। 'भ्रमरगीत' की रचना करते समय भी उन्होंने इसी कृति को मूलाधार के रूप में स्वीकृत किया है और उसके विषय में भी उपर्युक्त सभी तत्व सर्वांशतः सत्य हैं।

'श्रीमद्भागवत' में भ्रमराख्यान के प्रसंग को अत्यन्त स्थूल तत्वों के आधार पर संघटित किया गया है। वहाँ उद्धव के व्रज-प्रवेश, उनके ज्ञानोपदेश और भ्रमर के आकस्मिक आगमन से सम्बन्धित स्थूल वृत्तों का कथन अवश्य है, किन्तु उसके अन्तर्गत गोपियों के प्रेमभक्तिमूलक प्रत्युत्तरों का संयोजन सूर की अपनी उद्भावना है। 'श्रीमद्भागवत' में उद्धव के पुष्कतर ज्ञान-प्रतिपादन को भी गोपियों द्वारा अत्यन्त शांत मनसा से स्वीकार कर लिया गया है और उसके प्रति किसी प्रकार के विशेष गम्भीर विद्रोह की सृष्टि नहीं की गई है, किन्तु सूर के 'भ्रमरगीत' में उद्धव को गोपियों की वचन-वक्रता के माध्यम से अनेक मर्मवेधी उपालम्भ भी सुनने पड़े हैं।

इस प्रकार 'भ्रमरगीत' से सम्बन्धित इस सम्पूर्ण प्रकरण की परिधि का क्षेत्र-निर्धारण करते समय सूर ने 'श्रीमद्भागवत' के तद्विषयक आख्यान को पृष्ठाधार के रूप में ग्रहण किया है और अपनी चिन्तन-समन्वित अनुभूति को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए अनेक नवीन तत्वों और घटनाओं की स्थापना की है। उन्होंने पूर्वकालीन परम्परागत विषय-वस्तु में परिष्कार करने के अनन्तर भाव-संयोजन और शिल्प-विधान, दोनों ही की दृष्टि से अपनी कृति में अनेक मौलिक विधाओं का समावेश किया है। इस प्रकार उनका यह प्रयत्न शुष्क बौद्धिकता में सरस हृदय-तत्व के समन्वय की ओर प्रेरित है और इसके अंतराल में पर्याप्त अभिनव सूत्रों की आयोजना हुई है। वास्तव में वह रस को काव्यात्मा के रूप में स्वीकृत करते थे और उसीका विधान करने के लिए उन्होंने अपने नव उन्मेष के आधार पर 'श्रीमद्भागवत' के कथानक को इतना रसात्मक रूप प्रदान किया है और अपने परवर्ती काव्य-प्रणेताओं के लिए एक निश्चित परम्परा की स्थापना की है।

'भ्रमरगीत' के कथानक की पृष्ठभूमि में कृष्ण के गोकुल-वास और

रास-विहार से सम्बन्धित सभी चित्र अवस्थित हैं। इनके अन्तर्गत कृष्ण की बाल्यकालीन क्रीडाओं का सम्पूर्णतः परित्याग है और इसकी आधार-भूमि के रूप में कवि ने केवल उनकी यौवनावस्था से सम्बन्धित चित्रों को स्वीकार किया है। कृष्ण का राधा और अन्य गोपियों के प्रति आकर्षण और प्रेम, उनका मधुर मुरली-वादन, कुंज-विहार और शरत् की निर्मल चन्द्रिका में रास-आयोजन आदि सभी घटनाएँ इस ग्रन्थ में पृष्ठाधार के रूप में गृहीत हैं। अक्रूर-आगमन और कृष्ण के मथुरा के लिए प्रस्थान की घटना इस सम्पूर्ण विषय की मूल चेतना का स्पर्श करती है। प्रेमिकाओं के रूप में गोप-वधुओं को और माता के रूप में यशोदा को कृष्ण की अनुपस्थिति में जिस विरह की अनुभूति होती है उसका प्रारम्भ यहीं से होता है।

सूर ने अपने 'भ्रमरगीत' में सर्वप्रथम मथुराधिप कृष्ण के विरह-भाव और गोपियों के प्रति उनके सान्त्वना-सन्देश का उल्लेख किया है। कृष्ण अपने अन्तरङ्ग सखा उद्धव के समक्ष अन्तर् की सम्पूर्ण व्यथा को स्पष्ट करते हैं और तत्पश्चात् उन्हें व्रजभूमि की ओर प्रस्थान करने के लिए प्रेरित करते हैं। स्मृति के आधार पर कृष्ण व्रज के पूर्व-अनुभूत परिचित प्रसंगों के प्रति ममत्व-भाव का अनुभव करते हैं और उद्वेग-वश अपनी तत्कालीन और पूर्वकालीन परिस्थिति का तुलनात्मक विवेचन करते हैं। राधिका के प्रणय-व्यवहार की स्मृति उनके अन्तर को सर्वाधिक परिमाण में विह्वल करती है और इसी कारण वह अपने प्रेम-विषयक गोपनीय भावों को भी उद्धव के समक्ष अनायास ही प्रकट कर देते हैं। यथा —

> कहत हरि, सुन उपंगसुत ! यह कहत हौं रसरीति।
> सूर चित तें टरति नाहीं, राधिका की प्रीति॥
>
> × × × ×
>
> कहा वह वृषभानुतनया, परम सुन्दर गात।
> सुरति आए रासरस की, अधिक जिय अकुलात॥

उद्धव ज्ञान-योग के शुष्कतर इतिवृत्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिक व्यक्ति हैं। उनके समक्ष कृष्ण का यह प्रतिपादन केवल स्थूल सांसारिक व्यवहार का प्रतीक है और चंचल चित्त-वृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभिमान प्रेरित होने के कारण वह कृष्ण के अनन्य मित्र होने पर भी उनके प्रेमाख्यान को तनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक ही तत्व से उद्भासित मानकर सांसारिक जीवों के मध्य भेद-बुद्धि के विधान को व्यर्थ मानते हैं। कृष्ण उनकी इस धारणा से परिचित हैं और इसे

अतिवादी तत्वों में प्रयुक्त मानकर एवं हित चिन्तक मित्र के नाते उन्हें प्रेम योग की रसात्मकता का बोध कराना चाहते हैं। इसके लिए मौखिक उपदेश का अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली मानकर वह व्यावहारिक ज्ञान को अधिक स्थायी और प्रभावशाली समझते हैं और यही कारण है कि मित्र के समक्ष स्वयं अपनी ओर से प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करने की अपेक्षा वह उसे उसका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्रज की ओर भेजना कहीं अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। इसी कारण व्यंग्यात्मक रीति से वह उद्धव को निम्नलिखित उद्बोधन प्रदान करते हैं —

पूरन ब्रह्म सकल अविनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु, विरह-नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम, ब्रह्म बिना नहिं आसति॥

कृष्ण के इस सन्देश के अनन्तर कुब्जा उनके गोकुल निवास की परिस्थितियों का नवीन दृष्टिकोण से व्याख्यान करती है और सामान्यतः यह आकांक्षा प्रकट करती है कि उद्धव यशोदा और गोपियों के सम्मुख यह प्रतिपादित करें कि कृष्ण ने अत्यन्त त्रस्त हो कर ही गोकुल का त्याग किया था और वर्तमान वातावरण में वह उसकी ओर से नितान्त विरत हैं। उद्धव उन दोनों की मनत भिन्न विचार धारा को हृदयंगम कर अत्यंत उत्साहपूर्वक ब्रज-भूमि में प्रवेश करते हैं और अपनी ज्ञान-साधना पर गर्व करते हुए गोपियों को भी उपदेश द्वारा उसी ओर प्रवृत्त करने का दृढ़ संकल्प करते हैं।

उद्धव के ब्रजागमन पर गोपियाँ उन्हें भ्रमवश कृष्ण के रूप में स्वीकार कर उनका मुक्त हृदय से स्वागत करती हैं किन्तु उन्हें अपने प्रियतम से भिन्न देखकर उन्हें अत्यंत निराशा का अनुभव होता है। तथापि अपने हृदय को प्रबोध देते हुए वे उनसे कृष्ण के स्वास्थ्यादि के विषय में प्रश्न करती हैं और अपने प्रिय की प्रेम पत्रिका को अत्यंत उल्लासपूर्वक ग्रहण करती हैं किन्तु प्रेम वेग के फलस्वरूप वे उसका अध्ययन करने में सर्वथा असमर्थ ही रहती हैं। उनका यह अनुरागमय व्यवहार उद्धव के शुष्क अन्तस् को मूक प्रणाली से प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। इसके दर्शन के उपरान्त उद्धव की किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था का किंचित् अनुमान हम निम्नलिखित पंक्तियों से लगा सकते हैं —

बूझि कुसल गोपाल की रही सकल गहि पाय।
प्रेम मगन ऊधो भये हो देखत ब्रज को भाय॥

× × × ×

पाती बाँचि न आवई, रहे नयन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, हो, ज्ञान-गरब गयो दूरि ॥

कृष्ण के प्रति गोपियों की इस अनन्य आत्मीयता का परिचय उद्धव को पद-पद पर प्राप्त होता है। प्रारम्भ में नवीन अनुभूति होने के कारण वह इसके प्रति किंचित विस्मय और आकर्षण का अनुभव करते हैं, किन्तु कुछ काल पश्चात अपने आगमन के उद्देश्य का स्मरण कर वह इस असामयिक भावुकता का परित्याग कर देते हैं और विभिन्न प्रकार से उनके समक्ष योग के महत्व का प्रतिपादन करते हैं। गोपियों के लिए यह विचार-धारा सर्वथा नवीन रहती है और सहसा वे इसे समझने में असमर्थ ही रहती हैं। कुछ समय तक तो वे सहज भाव से उद्धव की वार्ता का श्रवण करती रहती हैं, तत्पश्चात् वे उन्हें इस मार्ग से विरत करने के स्वाभाविक प्रयास करती हैं और अन्त में व्यंग्य का आश्रय ग्रहण कर उन्हें पूर्णत निरुत्तर कर देती हैं। गोपियों के इन अत्यंत विश्वास-समन्वित व्यंगात्मक वचनों को सुन कर उद्धव की दशा अत्यंत करुण हो जाती है और व्यावहारिकता से पृथक रहने के कारण वह इनका कुछ भी उत्तर देने में असमर्थ रहते हैं। उदाहरणार्थ गोपियों द्वारा व्यवहृत निम्नलिखित व्यङ्ग्य-भावों को देखिये —

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह व्योपार तिहारो ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै ॥

× × × ×

ऊधो ! और कछू कहिबे को ?
सोऊ कहि डारो या लागें, हम सब सुनि सहिबे को ॥

गोपियाँ उद्धव के व्यक्तित्व को अपने आरोपों द्वारा इतना अधिक आवृत कर लेती है कि उन्हें इन वचनों का उत्तर देने के लिए अपेक्षित अवसर ही प्राप्त नहीं हो पाता। अन्त में वह प्रेम-पक्ष की घनीभूत रस-चेतना से अभिभूत होकर अपनी पराजय को पूर्णत स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु पराभूत मनोवृत्ति से उद्भूत दैन्य और ग्लानि से युक्त व्यवहार का पूर्ण प्रकर्ष उनकी आत्मा में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता भाव-सकुल होने पर भी वह इस प्रकार की भावनाओं का केवल स्पर्श ही करते हैं। वस्तुत अपनी अन्तर्वृत्तियों को प्रेम-भाव से सयुक्त करने पर भी ज्ञान-पक्ष की अवशिष्ट विचार-धारा के फलस्वरूप उनका व्यवहार दूरवर्ती ही रहता है और रसात्मक बोध की अंतिम अवस्था उन्हें प्राप्त नहीं होती। मथुरा लौटने पर कृष्ण के प्रति कहे गये उनके निम्नलिखित वचनों

में उनके हृदय के अनुराग-पक्ष और ज्ञान-वृत्ति का क्रमशः पूर्ण प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है :—

> उनमें पाँच दिवस जो बसिये।
> नाथ ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कत पै ?
>
> × × × ×
>
> मैं समुझाई अति अपनो सो।
> तदपि उन्हें परतीति न उपजी, सबै लखो सपनो सो।'

तथापि इतना स्पष्ट है कि उद्धव ब्रज-व्यवहार से अतिशय प्रभावित हुए और ज्ञान-साधना के अधिकांश अंश को उन्होंने अपने हृदय से बहिष्कृत कर दिया।

संक्षेप में महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' का सृजन करते समय इसी कथानक को आधारभूत वस्तु के रूप में स्वीकृत किया है। समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्होंने निर्गुण को प्रवचनात्मक माना है और सगुण को लोक-व्यवहार के सर्वाधिक अनुकूल। वह निराकार की साधना की अपेक्षा साकार की अन्तर्मुखी भक्ति को कहीं अधिक श्रेयस्कर मानते थे और यही कारण है कि उन्होंने ब्रह्मोपासक उद्धव के पराभव और कृष्णानुरागी गोपियों के विजय-लाभ का प्रदर्शन किया है। अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करते समय उनकी दृष्टि सदैव इसी तत्व पर केन्द्रित रही है और इसी के फल-स्वरूप वह अपनी विचार-धारा का इतने सफल आधार पर रम्य-मधुर प्रतिपादन कर सके हैं।

'भ्रमरगीत' के कथानक पर दृष्टिपात करने के अनन्तर हम देखते हैं कि इसमें कृष्ण और गोपियों के परस्परोन्मुख प्रेम की अत्यन्त मार्मिक विवेचना की गई है। यद्यपि सामान्य दृष्टिकोण से प्रेम का विकास स्थूल लौकिक ही प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः इसमें अध्यात्म-भाव की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। गोपियों का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम प्रायः जीवात्मा की परमात्मा के प्रति साधना का प्रतीक हो सकता है और कृष्ण का गोपियों के प्रति अनुराग ईश्वर के भक्त के प्रति स्नेह-व्यवहार का प्रतीक हो सकता है। इस विषय में जो अपवाद उपलब्ध होते हैं, उनके मूल में निश्चय ही अत्यधिक आत्मीयता के विकास का कारण स्थित है। इस पूर्ण-विकसित साधनामूलक अनुराग-भाव के कारण ही गोपियाँ कृष्ण का पति-रूप में वरण करती हैं और कृष्ण उन्हें पत्नीवत् स्वीकार करते हैं।

इसी प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि सूर तुलसी की भांति दास्य भाव की भक्ति में विश्वास न रखकर सख्य भाव की उपासना में आस्था रखते थे। साधना की इसी पद्धति का आधार ग्रहण करने के कारण उन्होंने कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध को मित्र-भाव के अनुसार नियोजित किया है और गोपियों के व्यवहार में विनय-भाव को अप्रविष्ट ही रहने दिया है। इसी के फलस्वरूप वह उनके व्यक्तित्व में उन्मुक्त भाषण का समावेश कर सके हैं और उनके द्वारा कृष्ण के प्रति व्यग्य तथा उपालम्भ-वचनों का प्रयोग करा सके हैं। वास्तव में उनका यह सम्पूर्ण प्रतिपादन शुद्ध रागात्मक आधार पर स्थित है और स्पष्टतः साधना की उस अवस्था की ओर सकेत करता है, जब जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद मिलन हो जाता है और साधक साध्य के प्रति पूर्ण तदाकार भाव का अनुभव करने लगता है। परवर्ती काल में इस प्रकार की शुद्ध प्रेममय अतर्चेतना हमें केवल मीरा के काव्य में ही उपलब्ध होती है। गोपियों का निम्नलिखित प्रतिपादन हमारे कथन का सर्वोच्च प्रमाण है :—

> नाहिन रह्यो मन में ठौर।
> नन्दनदन अछत कैसे, आनिए उर और ?
> चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
> हृदय ते वह स्याम मूरति, छन न इत उत जाति।।

इसी अध्यात्म-रूपक का और आगे निर्वाह करने पर हम देखते हैं कि उद्धव मध्यस्थ व्यक्ति के रूप में प्रकारान्तर से गुरू का कार्य करते हैं। इसी स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि सूर के युग में सगुण भक्ति के पार्श्व में निर्गुण साधना का ठीक प्रकार पल्लवन हो रहा था और इस मत में ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में गुरू के सकेत का सर्वोपरि महत्त्व था। सूर ने गुरू की सत्ता को स्पष्टत तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु उद्धव के व्यक्तित्व में हम इसका प्रतिबिम्ब अवश्य देख सकते हैं। गुरू का कार्य निश्चित रूप से यही होता है कि प्रथमत. वह साधक को पथ के स्वरूप का ज्ञान कराये और तदनन्तर उसे भक्ति-चेतना की ओर पूर्णत उन्मुख कर दें। 'भ्रमरगीत' में कवि का अभीष्ट निर्गुण भक्ति का खण्डन और सगुण उपासना का समर्थन है। इस कारण गुरू के रूप में उद्धव की सफलता-असफलता का निर्णय भी इसी दृष्टिकोण से करना होगा। इस पक्ष से विवेचना करने पर हम देखते हैं कि यद्यपि उद्धव गोपियों के समक्ष सगुण के स्वरूप का आख्यान करने का प्रयास तो कहीं भी नहीं करते, तथापि परोक्ष में उनके हृदय में सगुण चेतना को दृढ अवश्य करते हैं। यह सत्य है कि उनके आगमन से पूर्व भी गोपियों के हृदय में कृष्ण के प्रति अनन्य प्रीति-भावना थी,

किन्तु ज्ञान-योग-विषयक द्वितीय विचार-धारा से वे नितान्त अनभिज्ञ थीं। उद्धव द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान होने पर वे उस व्यवधान के प्रति भी पूर्णतः सचेत हो गई और उसका निराकरण करने के लिए उन्होंने सहज ही अपने हृदय में पूर्ण क्षमता का सचार कर लिया। इस प्रकार उद्धव के ज्ञानोपदेश से भी प्रकार-भेद से उनकी प्रेम-भावना की पुष्टि ही प्राप्त हुई और उद्धव ने परोक्ष में गुरु अथवा सहायक व्याख्याता का ही कार्य किया। उनका निम्नोद्धृत-भाव-स्पष्टीकरण निश्चित रूप से इसी तथ्य की संकेतात्मक अभिव्यक्ति करता है :—

> जौ पै प्रभु करुना के आलै।
> तौ कत कठिन कठोर होत मन, मोहि बहुत दुख सालै॥
> यही बिरद की लाज, दीनपति करि मुदृष्टि देखौ।
> मोसौ बात कहन किन सनमुख, कहा अवनि लेखौ॥
> निगम कहत बस होत भक्ति तें, सोउ है उन कीनी।
> सूर उसास छाँड़ हा हा ब्रज जल, अँखियाँ भरि लीनी॥

इस दृष्टिकोण के अनुसार कुब्जा की स्थिति 'भ्रमरगीत' में व्यवधान का सयोजन करने वाली माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह स्पष्टतः गोपियों को उनकी अभीष्ट प्रेम-साधना से विरत करना चाहती है और इसके लिए गहन प्रवचना का आश्रय ग्रहण करती है। उसका मूल ध्येय यही है कि न केवल साधनारत गोपियाँ ही, अपितु साध्य कृष्ण भी परस्पर विमुख हो जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह गोपियों को अपने प्रियतम के प्रति रुष्ट करा देना चाहती है और कृष्ण को एक विशेष असमजस की स्थिति में डाल देना चाहती है। उपासक और उपास्य के मध्य इसी भेद बुद्धि का विधान करना ही माया का प्रमुख कार्य है। कृष्ण की द्विधात्मक स्थिति का कारण यह है कि माया का नियन्त्रण भी ईश्वर के रूप में वही करते हैं। आगे हम गोपियों के प्रति कुब्जा के अवरोधात्मक व्यवहार और कृष्ण की द्विधा से सम्बद्ध प्रकरणों को क्रमश उद्धृत करते हैं —

> सुनियो एक सदेसो ऊधो, तुम गोकुल को जात।
> ता पाछे तुम कहियो उनसों, एक हमारी बात॥
> मात-पिता को हेत जानि कै, कान्ह मधुपुरी आए।
> नाहिन स्याम तुम्हारे प्रीतम, न जसुदा के जाए॥

× × ×

सूरदास यह सुनि सुनि बातें, स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम-ग्वालिनी, कहत न कछु बनि आई॥

२८. 'भ्रमरगीत' में उद्धव और गोपियों की स्थिति उभयोन्मुख है। वे क्रमशः ज्ञान-साधक और प्रेम-साधक भी हैं और गुरू भी! जिस प्रकार उद्धव प्रकारान्तर से गोपियों की रागात्मक चेतना को सजग करते हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी गुरु के रूप में उन्हें एक नवीन निरविरोध मार्ग का दर्शन कराती हैं। स्वयं उद्धव उन्हें अपनी गुरु अथवा शिक्षिका के रूप में स्वीकार करते हुए श्रद्धापूर्वक निम्नलिखित वचन कहते हैं:—

तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो।
भगति सुनाय जगत निस्तारो॥

अन्त में निष्कर्षतः हमें यही कहना है कि यद्यपि सूर ने 'भ्रमरगीत' में कतिपय स्थलों पर गौण रूप में निर्गुण साधना की मुख्य विशेषताओं को भी स्वीकृत किया है, तथापि उनका अभीष्ट यही था कि इस ग्रन्थ के पाठक और श्रोता प्रेममय भक्ति-धारा की ओर अनन्य रूप से उन्मुख हों और उसमें पूर्ण अभिनिवेश करें। एक स्थल पर उन्होंने स्पष्टतः इसका प्रतिपादन भी किया है:—

'भ्रमरगीत' जो सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो प्रानी पावै॥

सूर एक कुशल और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। 'श्रीमद्भागवत' के तद्विषयक प्रकरण की विरसता को सरसता में परिवर्तित कर उन्होंने अपनी इसी भावना का परिचय दिया है। गोपियों को व्यंग्यात्मक और उपालम्भमय वाक्‌चातुर्य प्रदान करना उनकी अपनी मौलिक सूझ थी और परवर्ती कवियों ने उसके महत्व को स्वीकृत करते हुए ही अपने काव्य में उसे स्थान प्रदान किया है। भाव और काव्य-शिल्प, दोनों ही की दृष्टि से उनका समकालीन हिन्दी काव्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इस कारण किसी पूर्व-प्राप्त साहित्यिक आदर्श के अभाव में इतने सुन्दर काव्य का प्रणयन कर सकना निश्चय ही एक प्रौढ़ कवि का कार्य है। सगुण के प्रतिपादन और निर्गुण के निराकरण की परम्परा की स्थापना भी उन्होंने ही की। इस भावना का उद्भावन उन्होंने इतने सजीव रूप में किया कि उनके उपरान्त लिखे गये सभी भ्रमरगीत-काव्यों में प्रायः इसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। सूर ने गोपियों के मुख से इसका प्रतिपादन जिस व्यंग्य-सजीव शैली में कराया है उसका एक उदाहरण देखिये:—

ऊधो ! सुनत तिहारे बोल।
ल्याये हरि-कुसलात धन्य तुम, घर घर पार्‌यो गोल ॥
कहन देहु कह करै हमारो, बरि उड़ि जैहै झोल।
आवत ही तोको पहिचान्यो, निपटहि मोछो तोल।
जिनके मोचन रही कहिबे त, ते बहु गुननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी, चनचल चरल लोल ॥

तुलसी का भ्रमराख्यान

सूर की भाँति ही महाकवि तुलसीदास ने भी भ्रमराख्यान-विषयक कतिपय पदों की रचना की है। तुलसी मूलतः विनयपूर्ण दास्य भक्ति में विश्वास रखते थे और मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र उनके आराध्य देव थे। इसी कारण कृष्ण-साहित्य का सृजन करते समय भी उन्होंने मर्यादा-भाव को विशेष महत्व प्रदान किया है और गोपियों के चरित्र में चापल्य के स्थान पर सहज भावमय परिस्थितियों का उद्‌भवन किया है। सगुण मार्ग की श्रेष्ठता की स्थापना करते समय भी उन्होंने तार्किक दृष्टिकोण का अधिक आश्रय ग्रहण नहीं किया है। इसी प्रकार चरित्र विधान करते समय भी अधिक वैविध्य का संयोजन वह न कर सके हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि उनका अभीष्ट राम-साहित्य का प्रणयन करना था और कृष्ण-काव्य की चेतना का उनकी आत्मा उतनी पूर्ण रीति से स्पर्श न कर सकी थी। तथापि मर्यादा-स्थापन की दृष्टि से उन्होंने निश्चय ही भ्रमरगीत की परम्परा को एक नवीन चरण प्रदान किया है।

नन्ददास का 'भँवरगीत'

तुलसीदास के पश्चात् रचना-परम्परा की दृष्टि से कविवर नन्ददास के 'भँवरगीत' का स्थान आता है। रस-संचार की दृष्टि से हिन्दी के कृष्ण-काव्य में उनकी कृति का अपना एक पृथक् एवं विशिष्ट स्थान है। संक्षिप्त और यथार्थ भावों के साथ साथ शैली में प्रवाह का आयोजन भी उनकी अपनी मौलिक विशेषता है। सूर की भाव विस्तार-विषयक प्रवृत्ति का निराकरण कर उन्होंने उनकी व्यंग्य शैली को और भी अधिक विकास प्रदान किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके 'भँवरगीत' में सूर के 'भ्रमरगीत' के समान विषय की अनेक-रूपता का समावेश न हो सका है, तथापि यह भी सत्य है कि सम्बद्ध प्रकरण की आत्मा का स्पर्श उन्होंने असन्दिग्ध रूप से कर लिया है। विषय-वस्तु के

अन्तर्गत जितने भी तथ्य आवश्यक थे उन सभी का संयोजन उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है।

नन्ददास ने अपने 'भँवरगीत' का प्रारम्भ अत्यन्त मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। उनके उद्धव मूलतः गोपियों को ज्ञान-मार्ग में प्रव्रजित करने के लिए ही ब्रज की सुरम्य भूमि में प्रवेश करते हैं, किन्तु उनसे साक्षात्कार होने पर सर्वप्रथम वह मनस्तत्व के सिद्धान्तों के अनुसार उनके पार्थिव एवं मनसगत सौन्दर्य की स्तुति करते हैं। व्यवहार द्वारा सिद्ध है कि उग्र से उग्र व्यक्ति भी आत्म प्रशंसा के समक्ष नत हो जाता है और उसके स्वभाव में क्रमशः कुछ कोमलता आने लगती है। अतएव इस स्थल पर हम नन्ददास के उद्धव को सूर के उद्धव की अपेक्षा कहीं अधिक कुशल पाते हैं। सूर के उद्धव की भाँति वह गोपियों के समक्ष तुरन्त योग-विषयक व्याख्यान नहीं करने लगते हैं, अपितु प्रारम्भ में ही वचन-पटुता द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं :—

ऊधौ को उपदेश सुनो ब्रजनागरी,
रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी।
प्रेम धुजा रसरूपिनी उपजावनि सुख पुंज,
सुन्दर स्याम विलासिनी नव वृन्दावन कुंज।
सुनो ब्रजनागरी॥

उद्धव का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर गोपियाँ उनकी हार्दिक अभ्यर्थना करती हैं। श्रीकृष्ण के प्रेम का स्मरण कर उन्हें अनेक सात्विक अनुभवों की अनुभूति होने लगती है और वे पूर्णतः रस-मग्न हो जाती हैं। कवि ने उनकी उक्त मनोदशा का अत्यन्त सहज-स्वाभाविक अङ्कन किया है। पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर उद्धव वियोग-विह्वला गोपियों को कृष्ण के सन्देश से अवगत कराते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि उनके प्रेम में वशीभूत होकर शीघ्र ही उनके प्रियतम ब्रज-भूमि में प्रवेश करेंगे। कवि ने सन्देश प्रभाव के विवरण को स्मरण-संचारी भाव के माध्यम से अत्यन्त सफल रूप में अभिव्यक्त किया है। चित्रात्मक अभिव्यंजना से संयुक्त होने के कारण प्रस्तुत पद के भाव-सौन्दर्य को और भी निखार प्राप्त हुआ है :—

सुनि मोहन संदेस रूप सुमिरन ह्वै आयो,
पुलकित आनन कमल अङ्ग आवेस जनायो।
विह्वल ह्वै धरनी परी ब्रजबनिता मुरझाय,
दै जल छींट प्रबोधहीं ऊधव बैन सुनाय।
सुनो ब्रजनागरी॥

उपयुक्त अवसर जानकर उद्धव गोपियों के ज्ञान-मार्ग के सम्बन्ध में बताना प्रारम्भ करते हैं, किन्तु उनकी श्रोता उन्हें मध्य में ही रोक देती हैं। उनका विचार था कि उद्धव उनके प्रिय के प्रेम एवं स्वास्थ्य आदि का विस्तृत रूप से उल्लेख करेंगे और इस प्रकार उन्हें किसी न किसी परिमाण में मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करेंगे, किन्तु इसकी अपेक्षा उनके मुख से किसी अन्य ही विषय की चर्चा सुनकर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य की प्रतीति होती है। समष्टि रूप में उनके भाव को ग्रहण न कर सकने के कारण गोपियाँ अत्यन्त सहज भाव से निम्नलिखित प्रश्न करती हैं —

कौन ब्रह्म, को जाति ग्यान कासों कहो ऊधो ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो ।

उद्धव अत्यन्त विद्वान् और दार्शनिक व्यक्ति थे। अत उन्होंने इस आक्षेप का तुरन्त उत्तर दे दिया। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि नन्ददास ने गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक तत्वों को भी अत्यन्त सरल रूप में अभिव्यक्त किया है और सूर की भाँति उन्होंने उद्धव को किंकर्तव्यविमूढ़ अथवा उत्तर-शून्य नहीं रहने दिया। उनके उद्धव अत्यन्त धारावाहिक रूप से गोपियों को परब्रह्म की श्रेष्ठता का ज्ञान कराते हैं —

यह सब सगुन उपाधि रूप निर्गुन है उनको।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनो गुन को॥

नन्ददास की गोपियाँ इतनी भोली नहीं हैं कि सहज ही में उद्धव के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें। वे तर्क के आधार पर अपने प्रेम-पक्ष की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं और इस प्रकार अपनी अनुभूति को अत्यन्त सहज स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। अन्त में उद्धव के निरन्तर प्रत्युत्तरों को देखकर वे उन्हें परामर्श देती हैं कि वह उनके समक्ष श्रीकृष्ण के प्रमास्पद रूप को ही स्पष्ट करें। इस प्रकार उद्धव सन्तुलन के द्वारा सगुण और निर्गुण, दोनों ही पक्षों को पूर्ण सजीव करते हैं। सूर के 'भ्रमरगीत' में इस सामंजस्य का इतने व्यापक आधार पर संयोजन नहीं किया गया, जो निश्चय ही अत्यन्त दोषपूर्ण है। वास्तव में नन्ददास के उद्धव को अपने प्रयत्नों पर सूर के उद्धव की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वास है। इसका कारण यही है कि सूर के 'भ्रमरगीत' में रागात्मक पक्ष की प्रधानता के फलस्वरूप उद्धव हृदय सत्ता के समक्ष शीघ्र ही पराभूत हो जाते हैं, किन्तु नन्ददास के 'भँवरगीत' में बौद्धिक पक्ष की प्रमुखता के कारण उद्धव पर्याप्त समय तक तर्क का आधार ग्रहण कर अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं।

रहीम का भ्रमरगीत-काव्य

भक्तिकाल में भ्रमराख्यान सम्बन्धी कथानक को वर्ण्य विषय के रूप में स्वीकार करने वाले अन्य कवियों में रहीम का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने गोपियों की विरह व्यथा का अत्यन्त व्यापक आधार पर चित्रण किया है। सहजतम परिस्थितियों पर आधारित होने के कारण यह वर्णन हृदय का तुरन्त स्पर्श करता है। किसी प्रकार की कृत्रिमता अथवा आवरण बद्ध कथन-प्रणाली को उन्होंने कहीं भी प्रश्रय नहीं दिया है। शिल्प विधान की दृष्टि से भी उन्होंने बरवै जैसे सीमित छन्द में विस्तृत भावों का सगुम्फन किया है। यथा —

> कहा छलत हो ऊधो दै परतीति ।
> सपनहुँ नहिं बिसरै, मोहनि मूरति ॥

मतिराम का 'भ्रमरगीत'

रीतिकाल के कृष्ण कवियों में 'भ्रमरगीत' का निरूपण करने वाले सर्वप्रथम कवि मतिराम हैं। यद्यपि उन्होंने इस विषय पर स्वतंत्र रूप से किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, तथापि अपनी रीति-शास्त्रीय कृतियों में अलकार वर्ग को उदाहृत करते समय उन्होंने इसे प्रतिपाद्य के रूप में प्राय स्वीकृत किया है। वैसे उन्होंने इसी विषय को लेकर कतिपय स्वतन्त्र पदों की भी सृष्टि की है। उन्होंने उद्धव और गोप-वधुओं के मध्य अधिक तर्क और मतभेद का आयोजन कर किसी प्रकार के वितण्डावाद की सृष्टि नहीं की है। उनकी गोपियां अपनी मनस्थिति के स्पष्ट कथन द्वारा उद्धव के प्रलाप को तुरन्त बन्द कर देती हैं —

> पगी प्रेम नदलाल के, हमें न भावत जोग ।
> मधुप राजपद पाइ कै, भीख न मागत लोग ॥

अन्य रीतिकालीन कवि

मतिराम के पश्चात् इस दिशा में देव, पद्माकर और घनानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। देव की गोपियां उद्धव के समक्ष कृष्ण के प्रति उपालम्भ को प्रकट करते समय सरल अभिव्यक्ति का परित्याग कर अत्यन्त तिक्त व्यग्य वचनों का प्रयोग करती हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी गोपियां उद्धव का उपहास करने के लिए कटिबद्ध हों और निरुत्तर होने के कारण भोले उद्धव चुपचाप उनकी वार्त्ता का श्रवण कर रहे हों। पद्माकर की गोपियां अपनी व्यग्य भावना को प्रकट करने के लिए वातावरण से भी पर्याप्त सहायता ग्रहण करती हैं। अभिव्यक्ति में तिक्तता का समावेश उन्होंने भी पर्याप्त

मात्रा में किया है। यही कारण है कि उनके भ्रमरगीत-विषयक कवित्त अन्तर को भावमय रूप प्रदान करने में पूर्णतः सक्षम हैं और अध्येता के चित्त को यथासाध्य अनुरंजन प्रदान करते हैं। घनानन्द की गोपियाँ सूर की गोपियों की भाँति भावनाओं के सहज धरातल पर अवस्थित नहीं रह पाई हैं। वस्तुतः तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर कवि ने भ्रमरगीत के प्रचलित आख्यान को भी उसी साँचे में ढालने की चेष्टा की है। फिर भी उनकी गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-मत का अत्यन्त उत्साहपूर्वक विरोध करती हैं और अपनी सगुणमयी विचार-धारा का प्रबल शब्दों द्वारा प्रस्थापन करती हैं।

रीतिकाल के ही एक अन्य कवि बरकत उल्ला 'पेमी' ने भी भ्रमरगीत के कथानक का विस्तृत आख्यान किया है। 'पेमी' जी की गोपियाँ पार्थिव और आध्यात्मिक, दोनों ही प्रकार की विचार-धारा को अभिव्यक्त करती हैं। यद्यपि मूलतः वह निर्गुण और सगुण के मतवाद का परित्याग कर शान्त मनसा से की गई भक्ति में ही विश्वास रखते हैं, तथापि इस प्रकरण में उन्होंने निर्गुण की अपेक्षा सगुण के अधिक महत्त्व का भी अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रस्थापन किया है। उदाहरणार्थ उनकी गोपियों की निम्नलिखित भावपूर्ण उक्ति देखिये :—

> मधुकर जात न ओसन प्यास।
> ध्यान ग्यान कछु काम न आवत, कीन्हो बहुत अभ्यास॥
> हम चाहत वह रूप मनोहर, तुम क्या जोग बखानो।
> आँब छाँड के भिर्न रूख को, सोई पुरुष सयानो॥

आधुनिक भ्रमरगीत-काव्य

वर्तमान युग के कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रभूत मात्रा में 'कृष्ण-विषयक काव्य' की रचना की है। उनके भ्रमरगीत-सम्बन्धी पद परस्पर स्वतन्त्र हैं और उनमें किसी विशेष क्रम का पालन नहीं किया गया है। उन्होंने उद्धव-गोपी सम्वाद को नितान्त सहज रूप में आयोजित किया है। वास्तव में उनकी गोपियाँ अध्येता के समक्ष नारी-जीवन की यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित कर देती हैं और सहसा हमारा मन उनकी समस्या के प्रति तदाकार-भाव का अनुभव करने लगता है। यद्यपि उनके काव्य का कला-पक्ष सूर और नन्ददास के काव्य की भाँति सहज स्वाभाविक और रम्य-मधुर नहीं है, तथापि भाव-निर्वाह में वह किसी से पीछे नहीं हैं। उनकी गोपियाँ भी उद्धव को युक्ति और व्यंग्य के आधार पर परास्त करने के लिए कृत संकल्प हैं। यथा :—

ऊधो ! जो अनेक मन होते ।
तो इक श्याम-सुन्दर को देते, इक लै जोग सँजोते ॥
एक सो सब गृह कारज करते, एक सो धरते ध्यान ।
एक सों श्याम रंग रंगते, तजि लोक लाज कुल कान ॥

भारतेन्दु युग के अन्य कवियों में पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी भ्रमरगीत-सम्बन्धी कतिपय पदों की रचना की है। उनकी गोपियाँ कृष्ण की अनन्य प्रेमिका हैं और उनसे वियुक्त अवस्था में उनकी स्थिति अत्यन्त करुण हो गई है। सन्देश-वाहक के रूप में उद्धव के व्रजागमन पर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होता है, किन्तु जब वह उनके समक्ष योग का जटिल व्याख्यान करने लगते हैं तब वे सहसा अचकचा उठती हैं और साहस कर उद्धव के कार्य में बाधा उपस्थित करने लगती हैं। उनके हठधर्मी व्यक्तित्व का निराकरण करने के लिए वे *वार्तालाप का अत्यन्त स्पष्ट आधार ग्रहण करती हैं* और उन्हें सदैव वस्तु स्थिति का आख्यान करने को प्रेरित करती हैं। कृष्ण के प्रति उनकी अतिशय प्रेम-विह्वलता का परिचय हमें निम्नलिखित पंक्तियों से भली-भाँति हो जाता है —

ऊधो कहा कहो उन कैसे ?
हा ! हा ! फेरि समुझि समुझावो, रहे जहाँ जित जैसे ॥
जेहि विधि जा जाके हित भाख्यो, उतनो ही बस वैसे ।
बरसावत बतियन को रस ज्यों वे, बरसावहु तैसे !
भरी प्रेम घनश्याम 'प्रेमघन' रटत राधिका ऐसे !

वर्तमान युग की भ्रमरगीत-परम्परा में अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' नामक काव्य का उल्लेख नितान्त आवश्यक है। उपाध्याय जी ने प्रस्तुत कृति की रचना शुद्ध मनोविज्ञान और तर्क-शास्त्र के आधार पर की है। इसके अन्तर्गत हमें कवि की मौलिकता का निदर्शन सर्वप्रथम इसी स्थल पर उपलब्ध होता है कि उन्होंने व्रजागमन के अनन्तर उद्धव के वार्तालाप का क्रम क्रमशः यशोदा, गोपजनों और गोप-वधुओं से रखा है। कृष्ण-वियोग में जननी यशोदा और प्रतिवेशी गोचारणकर्त्ताओं की जो स्थिति होती है, उसका इतने व्यापक आधार पर इससे पूर्व किसी अन्य कवि ने उल्लेख नहीं किया था। इस सम्पूर्ण घटना के मूल में श्री कृष्ण के जिस सामाजिक व्यवहार की प्रतीति होती है, उसकी ओर भी सर्वप्रथम उन्हीं का ध्यान गया। उनकी गोपियाँ भी किंचित् मात्रा में तर्काश्रित होने के कारण ठोस प्रमाण के आधार पर विचार-

विमर्श करती हैं। कृष्ण की आत्मा को वे भी अपनी आत्मा से अनिवार्यतः संयुक्त मानती हैं :—

कोई ऊधो यदि यह कहे काढ़ दे गोपिकायें,
प्यारा-न्यारा निज-हृदय तो वे उसे काढ़ देंगी।
हो पावेगा न यह उनसे देह में प्राण होते,
उद्योगी हो हृदय-तल से श्याम को काढ़ देवे॥

भ्रमरगीत-सृजन के इस क्रम में कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी अपने 'उद्धव-शतक' नामक काव्य की रचना द्वारा सराहनीय योग प्रदान किया है। उन्होंने गोपियों की प्रिय-पार्थक्य जनित वेदना का चित्रण करने के साथ-साथ कृष्ण के विरह के स्वरूप का भी पूर्ण उल्लेख किया है। उनकी गोपियों में वर्तमान युग की स्पष्ट व्याख्यान करने वाली नारी के सभी गुण वर्तमान हैं। अन्य कवियों की अपेक्षा उन्होंने उद्धव को भी कहीं अधिक तर्करत अवस्था में चित्रित किया है और यही कारण है कि गोपियों के सहज तर्क के समक्ष वह सहसा पराभूत होकर निष्क्रिय नहीं हो जाते। तथापि वातावरण के संवेदनशील मन का प्रभाव उनके हृदय पर इतने व्यापक परिमाण में होता है कि शुष्क वेदान्तवादी होने पर भी वह सगुण भक्ति के प्रेम-पक्ष में विश्वास करने लगते हैं। इस विषय में उनके हृदय पर सबसे अधिक प्रभाव उन उक्तियों का पड़ता है जिन्हें गोपियों ने शुद्ध रागात्मक आधार पर गर्वित किया है। यथा —

जोग रतनाकर में साँस घूँटि बूड़ै कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक विचार चुकी।
मुक्ति मुक्ता को मोल माल ही कहाँ है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वार चुकी॥

× × ×

हम जमराज की धरावति जमा न कछू
सुरपति संपति की चाहति न ढेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधौ काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहि देत एक कान्ह की कमेरी हैं॥

कविवर मैथिलीशरण गुप्त की गोपिकायें अत्यधिक भाव-प्रवण, बुद्धि-चतुर और चपल हैं। उनके उद्धव ज्ञानवाद के अटल विश्वासी होने पर भी भावक हैं और हृदय-चेतना में उनकी पूर्ण आस्था है। शैली और भावना, दोनों में ही परिवर्तन का विधान कर उन्होंने अपने 'द्वापर' द्वारा भ्रमरगीत-परम्परा

को एक नया मोड़ प्रदान किया है। उनकी गोपियाँ प्रत्युत्पन्नमति से युक्त होने के कारण उत्तर देने में विलम्ब नहीं करतीं और अपनी सहज मेधा से उद्धव को निरुत्तर करने का पूर्ण प्रयास करती हैं। इस कार्य के लिए वे प्रथमत. उद्धव के ज्ञान की असीमित प्रशंसा करती हैं और तदन्तर व्यञ्जना द्वारा उन्हें बुद्धि हीन घोषित करती हैं। इसी प्रकार का एक सुन्दर पद देखिये —

> ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो,
> अपना अपना होता।
> वक्ता भी क्या करे, न पावे,
> यदि अधिकारी श्रोता ?

वर्तमान युग में भ्रमरगीत-रचना करने वाले अन्य कवियों में प० सत्यनारायण 'कविरत्न' और डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। 'कविरत्न' जी ने भ्रमर को कृष्ण के प्रति यशोदा के दूत के रूप में उपस्थित किया है। युगीन प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने सम्बन्धित काव्य में नारी-शिक्षा एव देश प्रेम आदि की आवश्यकता पर बल देते हुए अपनी राष्ट्रीय भाव धारा को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान की है। जननी यशोदा के पुत्र वियोग को जितना महत्व उन्होंने प्रदान किया है, उतना सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य की परम्परा में अन्य किसी कवि ने नहीं किया है। कृष्ण की अनुपस्थिति में उनकी असीम विह्वलता का एक करुण परिस्थिति चित्र देखिए —

> कृष्ण-विरह की बेलि नई ता उर हरियाई,
> सोचन अश्रु-विमोचन दोउ दल बल अधिकाइ।
> पाइ प्रेमरस बढ़ि गई, तन-तरु लिपटी धाइ,
> फैलि, फूटि, चहुँधा छई, बिथा न बरनी जाइ॥
> अकथ ताकी कथा !

वस्तुत 'कविरत्न' जी का 'भ्रमरदूत' अपने पूर्ववर्ती काव्यों से सर्वथा भिन्न है। भाव-सयोजन करते समय उन्होंने मौलिकता पर पूर्ण बल दिया है और भ्रमराख्यान-विषयक प्रकरण के सभी उपेक्षित स्थलों पर सम्यक् प्रकाश डाला है। उनके काव्य में भ्रमर उद्धव और गोपियों के सम्वाद के मध्य प्रवेश नहीं करता, अपितु यशोदा को विलापरत देखकर स्तब्ध् रह जाता है और उनके सन्देश को कृष्ण के पास ले जाने का उपक्रम करता है —

> ठिठक्यो, अटक्यो भ्रमर, देखि जसुमति महरानी,
> निज दुख सों अति दुखी, ताहि मन में अनुमानी।

सूर ने अपने 'भ्रमरगीत' के पुरुष-पात्रों में कृष्ण और उद्धव तथा स्त्री-पात्रों में राधा एवं अन्य गोपिकाओं को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इन सभी पात्रों में कृष्ण मूल कर्त्ता हैं और उनकी अधिकांश क्रिया-वृत्तियों से प्रभावित होने के कारण शेष चरित्र केवल भोक्ता हैं। उद्धव का कर्त्ता रूप कृष्ण के सन्देश से अनुप्राणित है और गोपियों का कर्त्ता-रूप शुद्ध अर्थों में परिस्थिति-जन्य है। मौलिक होने पर भी उनके व्यवहार में कृष्ण के प्राणवान् व्यक्तित्व की योजना नहीं है और यही कारण है कि प्रस्तुत काव्य-प्रकरण में उनका स्थान अपेक्षाकृत अप्रधान हो गया है। इस काव्य की चेतना समग्रतः कृष्ण के चरित्र के चतुर्दिक् केन्द्रित है और उनका प्रत्येक कार्य अनिवार्यतः उक्त पात्रों को प्रभावित करता है तथा उन्हें तर्क एवं बुद्धि द्वारा अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर रखने की बोध-वृत्ति प्रदान करता है।

महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में कथानक का संयोजन करते समय सामान्य कथा-निर्वाह के साथ-साथ रूपक की सृष्टि का भी उतना ही ध्यान रखा है। रूपक के इस आवरण के विधान में पात्रों की प्रतीकमय योजना ने सर्वाधिक योग प्रदान किया है और उसके सहधर्म-निर्वाह से ही विषय-तत्त्व की द्वि-अर्थक अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी है। रूपक का यह स्पष्ट प्रसार सामान्यतः पात्रों के उभयोन्मुख व्यक्तित्व पर ही आधारित है और कवि ने उनकी अन्तर्मुखी चेतना का अत्यंत सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इन अर्थों में कृष्ण प्रारम्भ में गोप-सखा और कालांतर में मथुराधिप होने पर भी सर्वशक्तिमान ईश्वरीय सत्ता के प्रतीक हैं, गोप-वधूटियाँ सामान्य प्रेम-मग्न नारियाँ होने पर भी साधना-रत जीवात्मा की प्रतीक हैं और उद्धव कृष्ण-सखा होने पर भी निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय के व्याख्याता आचार्य हैं। इसी प्रकार अवशिष्ट पात्र भी किसी न किसी प्रकार रूपक की सिद्धि में सहायता प्रदान करते हैं और उनके द्वारा अभिव्यक्त वचन प्रकारान्तर से प्रस्तुत के साथ किसी इतर रहस्य-लोक की चेतना की ओर इंगित करते हैं।

'भ्रमरगीत' के कवि ने कृष्ण के चरित्र को प्राथमिकता प्रदान करते हुए कथानक की सम्पूर्ण शक्ति को उन्हीं के द्वारा प्रेरित तथा संचालित कराया है। ... के प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है अर्थात् ...त्मक रूप में उनके चरित्र की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति वृन्दावन के मनोरम ...वरण में होती है और प्रकट रूप में वह मथुरा के वैभव-समृद्ध प्रासादों में ...त रहते हैं। उद्धव को ब्रज-भूमि-प्रवेश के लिये उत्साहित कर सन्देश-

: ६ :

सूर के 'भ्रमरगीत' में चरित्र-विधान

साहित्य में चरित्र-विधान से हमारा तात्पर्य सामान्यतः व्यक्तित्व के सवलित चित्रण से है। काव्य की स्वाभाविकता को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि पात्रगत विशेषताओं को विषय के अनुकूल उपयुक्त स्तर पर सयोजित किया जाए। किसी प्रकार की सकुचित अथवा प्रतिवादी मनोवृत्ति वहाँ केवल असफलता की द्योतक होती है और कृत्रिमता के फलस्वरूप अध्येता के चित्त का प्रसादन करने मे नितान्त असमर्थ रहती है। महाकवि सूरदास ने इस तथ्य का सर्वत्र ध्यान रखा है और यही कारण है कि उनके 'भ्रमरगीत' में पात्रों ने सदैव विषय-वस्तु को गतिमान करने में सहायता प्रदान की है। उनके काव्य में वस्तु-तत्त्व का विकास सपूर्णतः प्रकृति के मधुमय अचल में हुआ है और उसमें समाविष्ट मानवीय व्यक्तित्व भी गोचारण युग की सस्कृति से अनिवार्यतः तदाकार हो गया है।

सूर के 'भ्रमरगीत' मे पात्रों के चेतन और अचेतन, दो स्पष्ट आधार वर्तमान रहे हैं। चेतन पात्रों के अन्तर्गत कृष्ण, उद्धव, नन्द आदि पुरुष-पात्रों, राधा, यशोदा, कुब्जा और गोपिकाओं के रूप मे नारी-पात्रो तथा पशु-पक्षियों के रूप में अवशिष्ट सप्राण व्यक्तित्वों की योजना की गई है। अचेतन पात्रों के अतर्गत लता-गुल्म, वृक्ष-पक्ति और प्रवहमान कालिन्दी आदि की गणना की गई है। काव्य की रसात्मक चेतना के अनुकूल ही कवि ने इन सज्ञा शून्य पदार्थो में मधुर स्पन्दन का अनुभव किया है और प्रत्येक रीति से यह चेष्टा की है कि वह उनके सूक्ष्म अशरीरी व्यक्तित्व में झाँककर देख सकें और उनकी स्थूल अभिव्यक्ति के सम्मिश्रण के साथ साथ कल्पना की मादक और मनोमय वृत्ति को भी उनमें साकार कर सकें। इस प्रकार उनका प्रयत्न सर्वत्र यही रहा है कि चेतन पात्र अचेतन तत्वों को अपनी सजीव गति में बाध लें और उनके मध्य की अपरिचित इकाइयाँ सदैव के लिये लुप्त हो जायें।

सूर ने अपने 'भ्रमरगीत' के पुरुष-पात्रों में कृष्ण और उद्धव तथा स्त्री-पात्रों में राधा एवं अन्य गोपिकाओं को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इन सभी पात्रों में कृष्ण मूल कर्ता हैं और उनकी अधिकांश क्रिया-वृत्तियों से प्रभावित होने के कारण शेष चरित्र केवल भोक्ता हैं। उद्धव का कर्ता रूप कृष्ण के सन्देश से अनुप्राणित है और गोपियों का कर्त्री-रूप शुद्ध अर्थों में परिस्थिति-जन्य है। मौलिक होने पर भी उनके व्यवहार में कृष्ण के प्राणवान् व्यक्तित्व की योजना नहीं है और यही कारण है कि प्रस्तुत काव्य-प्रकरण में उनका स्थान अपेक्षाकृत अप्रधान हो गया है। इस काव्य की चेतना समग्रत कृष्ण के चरित्र के चतुर्दिक् केन्द्रित है और उनका प्रत्येक कार्य अनिवार्यतः उक्त पात्रों को प्रभावित करता है तथा उन्हें तर्क एवं बुद्धि द्वारा अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर रखने की बोध-वृत्ति प्रदान करता है।

महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में कथानक का संयोजन करते समय सामान्य कथा-निर्वाह के साथ-साथ रूपक की सृष्टि का भी उतना ही ध्यान रखा है। रूपक के इस आवरण के विधान में पात्रों की प्रतीकमय योजना ने सर्वाधिक योग प्रदान किया है और उसके सह-धर्म निर्वाह से ही विषय-तत्व को द्वि-अर्थक अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी है। रूपक का यह स्पष्ट प्रसार सामान्यत. पात्रों के उभयोन्मुख व्यक्तित्व पर ही आधारित है और कवि ने उनकी अनेकोन्मुखी चेतना का अत्यत सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इन अर्थों में कृष्ण प्रारम्भ में गोप-सखा और कालांतर में मथुराधिप होने पर भी सर्वशक्तिमान ईश्वरीय सत्ता के प्रतीक हैं, गोप-वधूटियाँ सामान्य प्रेम-मग्न नारियाँ होने पर भी साधना-रत जीवात्मा की प्रतीक हैं और उद्धव कृष्ण-सखा होने पर भी निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय के व्याख्याता आचार्य हैं। इसी प्रकार अवशिष्ट पात्र भी किसी न किसी प्रकार रूपक की सिद्धि में सहायता प्रदान करते हैं और उनके द्वारा अभिव्यक्त वचन प्रकारान्तर से प्रस्तुत के साथ किसी इतर रहस्य-लोक की चेतना की ओर इंगित करते हैं।

'भ्रमरगीत' के कवि ने कृष्ण के चरित्र को प्राथमिकता प्रदान करते हुए कथानक की सम्पूर्ण शक्ति को उन्हीं के द्वारा प्रेरित तथा संचालित कराया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है अर्थात् रसात्मक रूप में उनके चरित्र की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति वृन्दावन के मनोरम वातावरण में होती है और प्रकट रूप में वह मथुरा के वैभव-समृद्ध प्रासादों में विद्यमान रहते हैं। उद्धव को व्रज-भूमि-प्रवेश के लिये उत्साहित कर सदेश-

कथन के समय उनके प्रति कृष्ण के निम्नांकित वचन स्पष्टतः इसी के प्रतीक हैं :—

> *सखी इक बन बसत हमारो, ताहि मिले सचु पाइयो।*
> *सावधान ह्वै मेरे हूतो, ताही माथ नवाइयो॥*
> सुन्दर परम किसोर वयक्रम, चचल नयन बिसाल।
> कर मुरली सिर मोरपख, पीताम्बर उर बन माल॥

कृष्ण-चरित्र की यह प्रच्छन्न और प्रकट अभिव्यक्ति निश्चित रूप से उनके व्यक्तित्व के द्वयोन्मुख स्वरूप को उद्घोषित करती है और उनके व्यवहार में परमात्म-सत्ता की वृत्तियों की स्थिति को स्थापित कर उनके तदनुरूप अस्तित्व को स्वीकार करती है। लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों ही प्रकार के आदर्शों के आधार पर कृष्ण-चरित्र का विश्लेषण करने के अनन्तर हम देखते हैं कि साध्य के रूप में वह स्वय भी प्रेम-साधनारत गोपियों से पृथक् रह कर विह्वलता का अनुभव करते हैं। यह तत्व उनकी अनन्य सहृदयता का प्रतीक है और इससे गोपियों के प्रति उनकी सहज अनुरक्ति की भी स्पष्ट व्यजना उपलब्ध होती है। सखा के रूप में वह उद्धव का भी पूर्ण आदर करते हैं और अन्तरग होने के कारण अपने गोपनीय से गोपनीय रहस्यों को भी उनके समक्ष सहज अनावृत कर देते हैं। वह माता-पिता के रूप में नन्द और यशोदा को भी स्मृति के आधार पर पूर्ण समादृत करते हैं और उनके स्नेहांचल में प्राप्त सुखों की पुनरावृत्ति के लिए *गहन आकाक्षा प्रकट करते हैं।* ब्रज के प्रति उनका प्रेम सामयिक न होकर शाश्वत है और यही कारण है कि उसकी तुलना में मथुरा के प्रति वह सतत विरक्ति का अनुभव करते हैं —

> ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाही।
> *हसमुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुजन की छाँही॥*
> × × × ×
> यह मथुरा कचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाही।
> जबहि सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तनु नाही॥

उद्धव निर्गुणमार्गी सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले अतः साधक व्यक्ति हैं। कृष्ण के साथ उनका प्रगाढ़ मैत्री-बन्धन है और इसका विकास इतने विस्तृत आधार पर हुआ है कि उन दोनों की वेष-भूषा तथा व्यवहार में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। यही कारण है कि प्रारम्भ में गोपियाँ भी *उन्हें भ्रमवश कृष्ण के रूप में ग्रहण करती हैं। उद्धव का मूल उद्देश्य ब्रज-*

वासियो की भक्ति को सगुण की ओर से निराकृत कर निर्गुण की ओर प्रवृत्त करना था। भिन्न भिन्न प्रकार से दृष्टान्त देते हुए उन्होने इसे चरितार्थ करना भी चाहा, किन्तु गोपियो ने अपनी सहज-चपल बुद्धि और तर्कों द्वारा उनकी भावनाओ का तुरन्त ही खण्डन कर दिया। ऋजु-सरल और निर्वक्र प्रकृति से समाविष्ट होने के कारण उद्धव उनके व्यग्य-वचनो को प्रत्युत्तरित करने मे नितान्त असमर्थ रहते हैं और अन्त मे हृदय की रागात्मक चेतना से प्रभावित होकर सगुण-उपासना को तत्त्वत. स्वीकार कर लेते हैं। यथा —

> अब अति पंगु भयो मन मेरो।
> गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को, भयो सगुन को चेरो ॥

'भ्रमरगीत' के नारी-पात्रो में व्रज-गोपिकाओ का स्थान सर्वप्रमुख है। वे कृष्ण के रस-रूप की उपासिका हैं और उन्होने उनके सान्निध्य में केलि-क्रीडा तथा रास आदि के सुख का पर्याप्त उपभोग किया है। प्रस्तुत कृति में कवि ने प्रिय के वियोग में उनकी स्थिति का उन्मुक्त चित्रण किया है। लौकिक दृष्टि से एक ही पुरुष के प्रति इतनी गोपियो का अनुरक्त होना पूर्णत· असगत प्रतीत होता है, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि से वे सब जीवात्मा की प्रतीक हैं और इस प्रकार उनका एक ही परमात्म-सत्ता की ओर उन्मुख होना सर्वथा उचित और स्वाभाविक है। रसात्मक वृत्ति से अप्लावित होने के कारण ईश्वर के सगुण रूप के प्रति उनकी गहन निष्ठा है और उद्धव द्वारा प्रतिपादित निर्गुण साधना को वे सहज शका और उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। व्यग्य-सजीव व्यक्तित्व से अनुप्राणित होने के फलस्वरूप वे अपने प्रतिपक्षी को वाणी-प्रयोग द्वारा पराभूत करने में पूर्णत सक्षम हैं। सवति भाव के कारण कुब्जा के प्रति उनके मन में तीव्र असतोष है और इसके कारण-रूप कृष्ण के प्रति भी वे स्पष्ट मान का प्रदर्शन करती हैं। राधा उन सब में शिरोमणि हैं और उन्हे स्वभावतः विरह-ताप की अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में अनुभूति होती है। मरण के अतिरिक्त वियोग की अन्य सभी दशाओ का उन्हें विवशत परिचय प्राप्त करना होता है। उदाहरणार्थ प्रमादावस्था से सम्बद्ध निम्नलिखित प्रकरण देखिये :—

> अति मलीन वृषभानु-कुमारी!
> हरि-स्रमजल अन्तर-तनु भीजे,
> ता लालच न धुआवति सारी ॥

ग्रधो मुख रहति उरध नहिं चितवति,
ज्यों गथ हारे थकित जुम्रारी।

छूटे चिकुर, बदन कुम्हलाने,
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥

6 कुब्जा स्वकीया न होने पर भी कृष्ण की ग्रनन्य प्रेमिका है। ग्रमर्ष-भाव से प्रेरित होने के कारण वह गापियों के प्रति अपने मन में उचित न्याय नहीं कर पाती ग्रौर प्रकार-भेद से उनके प्रति कटु-तिक्त वचनों का प्रयोग करती है। वह गोपियों को कृष्ण की प्रियतमाग्रों के रूप में स्वीकार न कर उन्हें किसी भी व्यक्ति पर मायावी प्रभाव डालने वाली नारियों के रूप में चित्रित करती है। इसी प्रकार वह यशोदा को भी शुद्ध मातृत्व के गौरव से अपदस्थ कर उनके प्रति ग्रसन्तोष प्रकट करती है। उसका यह सम्पूर्ण प्रतिपादन निश्चित रूप से उसके मन की क्षुद्र प्रवृत्ति की सूचना देता है। इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि उपयुक्त विचार-विनिमय के ग्रनन्तर तथ्य निर्धारण करने की क्षमता से वह सर्वथा शून्य है।

7 यशोदा को कृष्ण के प्रति ग्रपार स्नेह है ग्रौर पुत्र-वियोग के ग्रवसर पर वह स्वभावत ग्रत्यन्त विह्वलता का ग्रनुभव करती हैं। सन्तान की ग्रनुपस्थिति में उनका समग्र कार्य-क्रम विपरीत गति से सचालित होने लगता है ग्रौर वह स्वय ग्रशान्ति का ग्रनुभव करने लगती हैं। ग्रतिशय स्नेहशील होने के कारण वह पथिको द्वारा देवकी के पास कृष्ण की दिनचर्या का सम्पूर्ण विवरण प्रेषित कराती हैं ग्रौर उनसे प्रार्थना करती है कि उनके पुत्र का उसी के ग्रनुसार पालन करें। उन्हें विश्वास है कि कृष्ण ग्रामीण सस्कृति में परिपोषित होने के कारण कृत्रिमता का परित्याग कर स्वाभाविकता को ही प्रश्रय प्रदान करेंगे ग्रौर इसी कारण वह उन्हें नवीन के आकर्षक परिधान को उतार कर प्राचीन के पुष्ट ग्राधार को ग्रहण करने का परामर्श देती हैं। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य ग्रन्त उद्भूत है ग्रौर वह निरन्तर उनकी हित-कामना करती है। उदाहरणार्थ पुत्र-वियोग के शोक में उनकी मानसिक उद्विग्नता ग्रौर तज्जनित विनय-भावना से सम्बद्ध एक उत्कृष्ट पद देखिये —

जो पै राखति हो पहिचानि।
तो बारेक मेरे मोहन को, मोहिं दइ दिखाई ग्रानि॥
तुम रानी बसुदेव गिरहिनी, हम ग्रहीर ब्रजबासी।
पठै दइ मेरो लाल लडैतो, वारो ऐसी हाँसी॥

मानवेतर चेतन पात्रो में मधुकर, चातक और कोकिल सर्वप्रमुख है। 'भ्रमरगीत' का अधिकाश कथानक भ्रमर के मधुमय गुन्जन पर आधारित रहा है और श्रवणरत गोपियो ने उसकी वाणी से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। अपनी समकोटि के पात्रो में विषय-तत्व के विकास में जितना सहयोग मधुकर ने प्रदान किया है, उतना अन्य किसी ने नही। गोपियो ने उसे उद्धव के समान ही महत्व प्रदान किया है और वार्ता के मध्य में प्रायः उसे सम्बोधित कर अपने हृदयगत भावो की अभिव्यक्ति की है। उसके व्यक्तित्व में सामान्यतः वक्रता, चपलता और सहजतम परिस्थितियो को अवरुद्ध करने की प्रवृत्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। गोपियो ने उसे प्राय. हठवादी और प्रमत्त मनोवृत्ति के व्यक्ति की सज्ञा प्रदान की है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा कथित निम्नलिखित पद देखिये —

> मधुकर ! जानत नाहिन बात।
> फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत, उठि न यहाँ तें जात ॥
> जा उर बसत जसोदानन्दन, निर्गुन कहाँ समात ?
> कत भटकत डोलत कुसुमन को, तुम हो पातन पात ?
> जदपि सकल बल्ली बन बिहरत, जाय बसत जलपात।
> सूरदास ब्रज मिले बनि आवै, दासी की कुसलात ॥

चातक का प्रवेश 'भ्रमरगीत' में इच्छित और अनिच्छित, दोनो रूपो में हुआ है। इसका मूल कारण यही है कि गोपियाँ कही तो उसके द्वारा उच्चरित 'पिया-पिया' ध्वनि को सयोगवाची मानकर उद्दीपनकारी होने के कारण उसके प्रति तीव्र असन्तोष प्रकट करती हैं और कही उसे विरह के घनीभूत स्वरूप की वाचिका मानकर उसके प्रति करुणा प्रकट करते हुए उसे अपने ही समान विरह-युक्त प्राणियो की श्रेणी में स्थान प्रदान करती हैं। वस्तुत. उसका स्वतः ऐसा कोई विशेष अभिप्राय नही है और वह इस शब्द का स्वभावत. ही उच्चारण करता है। इस प्रकार 'भ्रमरगीत' में उसका व्यक्तित्व द्वयो-मुख रहा है और वह विरह-विदग्धा गोपियो की चेतना को अपनी ओर आकृष्ट करने में पूर्णतः सफल रहा है।

कोकिल का स्वरूप 'भ्रमरगीत' में शुद्ध अर्थों में उद्बोधनात्मक रहा है। एक ओर वह अपनी स्वर-लहरो के माध्यम से गोपियो के लिये उद्दीपन का कार्य करती है और दूसरी ओर उद्धव को उद्बुद्ध कर मान-योग से उनकी रक्षा करती है। इस प्रकार गोपियो को परिस्थिति के भेद से उत्पीडन और सान्त्वना, दोनो प्रदान करने से पिक का व्यक्तित्व भी स्पष्टत अनेकाश्रित है। चातक के समान

उसकी ध्वनि का नैरन्तर्य भी पूर्ण नैसर्गिक परिस्थितियों पर ग्राधारित है और वातावरण को अपनी इच्छा के अनुकूल किसी एक ही दिशा में परिवर्तित कर देने की आकांक्षा उसे नहीं है। अपने कूजन द्वारा उद्धव को ज्ञान-मार्ग के व्याख्यान से विरत कर उसे सहसा सगुणाश्रित बनाकर उसने एक आध्यात्मिक महत्व का कार्य किया है। उसके इस सहायता-निरत व्यक्तित्व का स्पष्ट निर्देशन हमें व्रज-बालाओं के निम्नलिखित कथन में उपलब्ध होता है :—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेस करत हो, भस्म लगावन आनन ॥

८ इसी कोटि के अन्य पात्रों में गो और मयूर के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गोचारण-काल की संस्कृति में निश्चय ही गऊ का महत्व असन्दिग्ध है। वृन्दावन में गायों के समुदाय के रक्षक और प्रतिपालक स्वयं कृष्ण थे। अतः उनके विरह में गैयों का सन्तापित होना सहज-स्वाभाविक ही है। स्वामिभक्त पशु के रूप में उनकी ख्याति विश्व-व्याप्त है और यही कारण है कि प्रभु के विरह में वे अतिशय विह्वलता का अनुभव करती रहती हैं। कृष्ण के मथुरा-गमन पर अपने अनन्य स्नेह के फलस्वरूप उनकी सभी गायें अन्न-जल का त्याग कर देती हैं और निरन्तर पथ की ओर दृष्टि लगाये उनके आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है। इससे हमें उनके मन के उच्चतर सात्विक अंश की स्पष्ट व्यंजना उपलब्ध होती है।

९ 'भ्रमरगीत' में मयूर-समुदाय का आगमन विरह की सहज अन्विति में बाधक तत्व के रूप में हुआ है। उनका व्यक्तित्व स्पष्टतः निर्भीक है और वे गोपियों के वर्जनात्मक संकेतों की तनिक भी चिंता न कर उन्मुक्त रूप से अपने मादक रव का प्रसारण करते हैं। कृष्ण का उनके प्रति आरम्भ से ही अतिशय प्रेम रहा है और वह उनके पुच्छ-पक्षों को अत्यन्त गौरवपूर्वक अपने मुकुट में धारण करते रहे हैं। अहम्मन्यतावादी न होने पर भी वे हठवादी अवश्य हैं और अत्यन्त निश्चिन्त रीति से गोपियों को संयोग-काल की स्मृति द्वारा विरह-त्रास दिखाते हैं। उनका यह स्वरूप प्रस्तुत कृति में प्रायः प्रत्येक स्थल पर समान रूप में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ —

हमारे माई मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत, त्यों-त्यों रटत खरे ॥
करि एक ठौर बीनि इनके पख, मोहन सीस धरे।
याही ते हम हू को मारत, हरि ही ढीठ करे ॥

कह जानिए कौन गुन, सखि री ! हमसो रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये बन तें न टरे॥

अचेतन पात्रो में चेतन पात्रो की भांति प्राण-संयोजन सूर की अपनी पृथक विशेषता है। जड तत्वो में व्यक्तित्व का प्रतिष्ठान काव्य के मधुर स्वरूप के संरक्षण के लिये आवश्यक है। इसके माध्यम से प्रकृति की रागात्मक सत्ता हमारे समक्ष और भी अधिक मुखर हो उठती है और हम वातावरण के प्रति सहज आत्मीय भाव का अनुभव करने लगते हैं। सूर ने अपने काव्य कौशल के आधार पर इन चरित्रो का विधान अत्यन्त व्यापक स्तर पर किया है और केवल-मात्र इसका आभास वहाँ नही है। 'भ्रमरगीत' के ऐसे पात्रो में लता, कुंज, मेघ-मण्डल और यमुना आदि प्रमुख हैं और कवि ने उनमें मानवीय गुणो को प्रस्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया है —

वियोग-वह्नि के तीव्र प्रभाव के फलस्वरूप गोपियाँ लता-गुल्म के मनोरम वातावरण को स्पष्टत अरि-भाव से स्वीकार करती हैं। संयोग-काल में उनके माध्यम से प्राप्त सुख को उद्भासित करते हुए भी वे यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नही हैं कि विरह के अवसर पर भी जीवन का स्रोत पूर्ववत् प्रभावित होता रहे। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि समय के साथ-साथ सम्बन्धित व्यक्ति की विचार-धारा अथवा पदार्थ की रूप-रेखा में भी सूक्ष्म अन्तर का विधान होना चाहिए। इसी कारण वे उनकी सम स्थिति के प्रति खिन्नता प्रकट करती हैं और कभी उनके अपरिवर्तित रहने पर क्षुब्ध होकर, उन पर तीव्र दोषारोपण करती हैं। आगे हम इसी प्रकार का एक उत्कृष्ट परिस्थिति-चित्र उद्धृत करते हैं —

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥

'भ्रमरगीत' में मधप का स्वरूप वस्तुत अचेतन होते हुए भी वाह्यन कृष्ण के वर्ण-साम्य के कारण सवास हो गया है। गोपियाँ उसके दर्शन के उपरान्त प्रियतम की स्मृति के कारण स्पष्टत और भी विह्वल हो उठती हैं। उस समय वे अत्यन्त कौशलपूर्वक उसकी स्तुति करती हैं और तदुपरान्त नितान्त करुण शब्दो में उसके समक्ष अपनी स्थिति को स्पष्ट करती हैं। साथ ही वे अपने सन्देश-प्रेषण के लिए उससे दूत-कर्म स्वीकार करने की प्रार्थना करते हुये उसे द्वारिकापुरी की ओर प्रस्थान करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। संयोग के अवसर पर सुखदायक होने पर भी वियोग की अवस्था में मेघ प्रेमी

जनों के लिए दुखदायक ही होता है और यही कारण है कि विरहिणी गोप वधुएँ उसे कृष्ण के समीप प्रेषित करना चाहती हैं जिससे वह उसकी आकृति के दर्शन कर प्रिय स्मृति से उद्विग्न हो जायें। उनका निम्नलिखित कथन निश्चित रूप से इसी का प्रतीक है —

> बलैया लेहों हो बरि बादर!
> तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम, गए निकट जल सागर॥
> या लागो द्वारका सिधारो, विरहिनि के दुखदागर।
> ऐसो सग सूर के प्रभु को, करुना धाम उजागर॥

१४ अन्य निष्प्राण चरित्रों में यमुना का अंकन एक अतिशय संवेदनशील तत्व के रूप में हुआ है अर्थात् अपने समीपस्थ वातावरण की चेतना से प्रभावित होने की प्रवृत्ति उसमें पूर्णत विद्यमान है। इस वर्णन में सामान्यत कवि की कल्पना के अंश का समावेश भी हुआ है क्योंकि कालिन्दी सलिल में श्याम वर्ण की जिस छटा का सामंजस्य होता है उसे ही कवि ने विरह विदग्ध अन्तर द्वारा उद्बुद्ध माना है। तथापि इससे यह प्रतीति निश्चित रूप से हो जाती है कि वह पूर्ण स्नेही है और कृष्ण के विरह में तत्काल मलिन पड जाती है। अपने हृदय की रागोन्मुख अन्तर्चेतना से वह गोपियों को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करती है और अत्यन्त तत्परतापूर्वक उन्हें मूल विषय (विरह) पर केन्द्रित रहने की शिक्षा प्रदान करती है। उदाहरणार्थ गोपियों द्वारा उपस्थित किया गया उसका निम्नलिखित अवस्था चित्र देखिये —

> देखियत कालिंदी अति कारी।
> कहियो पथिक! जाय हरि सो ज्यों भई विरह जुर जारी॥

१७ अन्तत यह स्पष्ट है कि भ्रमरगीत में गम्भीर दृष्टिकोण से पात्र-सृष्टि करने में महाकवि सूरदास को पूर्ण सफलता उपलब्ध हुई है। चरित्र विधान में वैविध्य और मौलिकता का समावेश उनकी अपनी विशेषता है और उन्होंने सर्वत्र प्राणपन से यह प्रयत्न किया है कि उनके द्वारा आयोजित व्यक्तित्व सजीवता के एक विशेष वातावरण में स्वत ग्रहण कर। अब समाधान के लिए एक अवशिष्ट प्रश्न यह रह जाता है कि चरित्र संयोजन करते समय उनके स्रष्टा ने पृष्ठभूमि में किस विशिष्ट आधार का प्रस्थापन किया है? उपस्थित सामग्री का अध्ययन करने पर यह हमारे समक्ष तुरन्त स्पष्ट हो जाता है और हम समझने लगते हैं कि अपने पात्रों के माध्यम से कवि का अन्तिम लक्ष्य निश्चय ही यथार्थ की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना रहा है। अति भौतिक तत्वों

की स्थूल व्याख्या उपस्थित करने की अपेक्षा उनका दृष्टि सदैव यही रहा है कि वह उन्हे आध्यात्मिक रङ्ग प्रदान कर कुछ अधिक सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्त करें। नैतिक मूल्यो पर आधारित होने के कारण उनका यह व्यवहार सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यधिक उपयुक्त रहा है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि अपने साहित्य में उन्होने यथार्थ की पूर्ण उपेक्षा ही की है। वस्तुतः उनके पात्रो का सगठन इन दोनो ही प्रणालियो के अनुसार हुआ है। साधनारत व्यक्ति होने के नाते उन्होने सुन्दर और वरेण्य आदर्श को कही अधिक महत्व प्रदान किया है।

'भ्रमरगीत' के प्राय सभी पात्र सामयिक समस्याओ के प्रति अत्यन्त जागरूक रहे हैं। वास्तव की उपेक्षा अथवा सत्य से पलायन करने की प्रवृत्ति उनमें कही भी दृष्टिगत नही होती और यही कारण है कि सामान्यतः अपने व्यक्तित्व का निस्संकोच अनावरण करने में उन्हे पूर्ण सफलता की उपलब्धि होती है। उपस्थित प्रश्न का विश्लेषण करने के अनन्तर किसी उचित निर्णय पर पहुँचने की उनको सदैव आकांक्षा रहती है। यह उनकी स्वस्थ और निर्भ्रान्त प्राण-चेतना का स्पष्ट प्रतीक-तत्व है और इसमे उनकी जिज्ञासामयी मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। साहित्य को चिरन्तन और शाश्वत महत्व प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पात्रो का सयोजन करते समय ऋजु सरल और मधुर-स्वाभाविक व्यक्ति-चेतना की निसर्ग अभिव्यक्ति को विशेष स्थान प्रदान किया जाये और सतोष का विषय है कि महाकवि सूरदास के काव्य मे यह सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध होता है।

: ७ :

सूर का प्रकृति-चित्रण

साहित्य की रूप-रेखा का निश्चय करने वाले तत्वों में प्रकृति की सहज-स्निग्ध चित्रावली को प्रमुख स्थान उपलब्ध है। इसका मूल कारण यही है कि उसकी अधिकांश भावनाएँ प्रकट अथवा प्रच्छन्न रीति से किसी न किसी रूप में प्राकृतिक उपादानों से सम्बद्ध रहती हैं। वस्तुतः इन दोनों के मध्य इस प्रकार की अनुरागमूलक भावना की स्थिति सहज सम्भाव्य भी है, क्योंकि मानव-हृदय आदिकाल से ही प्रकृति के सौन्दर्य से विशिष्ट रूप में सम्पृक्त रहता आया है और साहित्य का प्रणयन करते समय उसका सर्वथा विस्मरण कर देना किसी भी अवस्था में उपयुक्त और श्लाघ्य नहीं है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक सुसंस्कृति-प्राप्त देश के साहित्य में प्रकृति को शीर्ष स्थान उपलब्ध हुआ है और समय के प्रत्येक चरण में इस ओर वांछित ध्यान दिया गया है।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक चरणों में काव्य के अन्तर्गत प्रकृति-श्री-विषयक भावना का कोई विशेष विकास दृष्टिगत नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि तत्कालीन कवि इसमें अक्षम थे, अपितु युग की परिस्थितियों की निरन्तर विपरीत गति के कारण उस समय इसके लिये पर्याप्त अवकाश ही न था। इतना होने पर भी प्रकृति का पूर्ण शून्यत्व वहाँ नहीं है और उसने किसी न किसी रूप में युगीन साहित्य को प्रभावित अवश्य किया है। आगे चलकर भक्त कवियों ने वर्ण्य की परिधि का विस्तार करते हुए प्रकृति चित्रण को प्रणाली को विशेष पल्लवन प्रदान किया। सूर एवं तुलसी ने अपनी काव्य चेतना को इस ओर उन्मुख करते हुए क्रमशः व्रज क्षेत्र और चित्रकूट आदि की प्रत्यक्ष और काल्पनिक छवि के माध्यम से अपनी कविता को श्रेष्ठ सज्जा प्रदान की। सूर के काव्य नायक श्री कृष्ण का न केवल जन्म और बाल्यकालीन पोषण ही प्रकृति के क्रोड में हुआ था, अपितु उनके यौवन की प्रेम भावना का सम्बन्ध भी प्रकृति की कुंजियों में ही रहा था और व्रज के रम्य कुञ्जों और

मनोरम जनपदो में ही उन्होने अधिकाश प्रेम-क्रियाओ का सम्पादन किया था। यही कारण है कि सूर के काव्य में प्राकृतिक उपादानो का परिग्रहण अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हुआ है और वह उनके आयोजन में पूर्णत सफल रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे हम उनके 'भ्रमरगीत' में प्रकृति-चित्रण के स्वरूप की चर्चा करगे।

महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' का सृजन करते समय प्रकृति से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है और उसकी शोभा से अपने काव्य को पूर्णत अलकृत किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के शुभ उन्मेष ने उनके काव्य को निरन्तर नूतन स्वर प्रदान किये हैं और उसकी छाया में उन्होने अपने कर्तव्य कर्म का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। वास्तव में वह सरल और स्वाभाविक वस्तु-स्थिति के प्रभाव से पूर्णत परिचित थे और यही कारण है कि उन्होने इसमें मूल सहायता प्रदान करने वाली प्रकृति की निसर्ग शोभा का स्पष्ट आधार ग्रहण किया है। इसी के फलस्वरूप जहाँ उन्होने प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर प्रकृति का मूर्त चित्रण किया है, वहाँ परोक्ष रूप में उसे जो पात्रगत अभि-व्यक्ति प्रदान की है, वह नितान्त श्लाघ्य है।

वैसे तो काव्य में प्रकृति को परिगृहीत करने की विविध प्रणालियो का प्रचलन है, किन्तु इस विषय में मुख्यत उसके दो ही रूप गण्य हैं। इन दोनो रूपो का सम्बन्ध क्रमश प्रकृति चित्रण की आलम्बन तथा उद्दीपन की शैलियो से है। 'भ्रमरगीत' में आलम्बन के रूप में प्राकृतिक उपकरणो का अत्यन्त अल्प प्रयोग किया गया है और इसका कारण मूलत विषय के प्रतिकूल निर्वचन से सम्बद्ध है। वर्ण्य की दृष्टि से कवि के लिये इसका आधार ग्रहण करना असम्भव नही तो दुस्साध्य अवश्य था। वस्तुत इसमें प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप को ही स्वीकार किया गया है और विषय के अनुकूल होन के कारण इसे सर्वथा उचित अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। प्रकृति के इस सम्पूर्ण व्यवहार की चरम व्यजना का बोध हमें केवल उसी समय हो सकता है जब हम प्रस्तुत काव्य के पात्रो का निकषा के रूप मे प्रयोग कर। इस दृष्टि से भी हम देखते हैं कि इसकी प्रमुख पात्रियो (गोपियो) को प्रकृति के उद्दीपनपरक स्वरूप ने ही प्रभावित किया है। इस प्रकार इसमें प्राकृतिक पक्ष की दृष्टि से उद्दीपन को ही मूल विषय के रूप में ग्रहण किया गया है।

'भ्रमरगीत' के कवि ने स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से रस की अभिव्यक्ति करते समय उसमें प्रकृति की अजस्र सुषमा का प्रतिष्ठान किया है। यही कारण है कि उन्होने विप्रलम्भ शृगार से सम्बद्ध

भावनाओं को प्रायः प्रकृति के माध्यम से प्रकट किया है। उनकी कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय गोप-वधुओं की मानसिक व्यथा का अनुमान किये बिना ही उद्धव उन्हें ज्ञानोपदेश देने में प्रवृत्त हो जाते हैं, उस समय सकोच के फलस्वरूप वे अपने अन्तस् की वेदना को स्पष्ट तथा सीधे शब्दों द्वारा अनावृत करने में सर्वथा असमर्थ रहती हैं। उन्हें निरन्तर यही चिन्ता रहती है कि इस अभिव्यक्तिकरण से उनकी वास्तविक परिस्थिति और अपरिमित वेदना का उचित बोध न हो सकेगा और ज्ञान-गर्वित उद्धव अपने उद्धत स्वभाव के कारण तनिक भी प्रभावित न होंगे। इसीलिये उन्होंने अपनी विरह-जनित वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः प्राकृतिक उपकरणों को माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। यथा :—

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो, पथिक ! जाय हरि सों, ज्यों भई विरह-जुर-जारी ॥
मनो पलिका पै परी धरनि धँसि, तरग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार-चूर मनो, स्वेद प्रवाह पनारी ॥
विगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहुँ दिसि, फिरति है अग दुखारी ॥
निसिदिन चकई-व्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति, सो गति भई हमारी ॥

'भ्रमरगीत' की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसके पात्रों का चरित्र-विकास प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में हुआ है। उसमें कृष्ण एवं गोपिकाओं जैसे मुख्य व्यक्तियों ने भी प्राकृतिक समीरण में श्वास लिये हैं और यही कारण है कि उनके प्रेम में पूर्ण स्वास्थ्य और स्वाभाविकता का समावेश हुआ है। इसके विपरीत प्राकृतिक सौंदर्य विकास से विमुख होने के कारण कुब्जा का चरित्र किंचित अस्वाभाविकता की ओर प्रेरित प्रतीत होता है। सूर ने अपनी कृति में गोपियों के प्रति उनके उद्गारों का जिस रूप में उद्धरण किया है, वह इसका स्पष्ट प्रतीक है। इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह अविराम प्रतिभासित होता है कि कवि का मुख्य लक्ष्य प्रकृति की आत्म-अभिव्यंजना के प्रति अनुराग प्रदर्शित करना था और इसी कारण उन्होंने गोपियों को उचित तथा कुब्जा को अनुचित मार्ग की ओर उन्मुख दिखाया है।

कृष्ण एवं गोपियों की बाल्यावस्था और यौवन-काल का अधिकांश भाग ब्रज के प्राकृतिक पदार्थों में अपनी भावनाओं को आकार देने और केलि-

क्रीडा करने में व्यतीत हुआ था। उन्होने अपने साहचर्य-काल में प्राणो में प्रकृति के निसर्ग स्पन्दन का ही अनुभव किया था और अपनी समग्र चेतना को निरन्तर उसी के अंचल में पल्लवित किया था। यही कारण है कि प्रवास-काल में उक्त दोनो ही प्रेमवाहक पक्षो को तीव्रतर विरह की अनुभूति होती है। विषय से विशेषत सम्बद्ध होने के कारण कवि ने इस दिशा में गोप-वधुओं के विरह को अधिक विस्तृत अभिव्यक्ति प्रदान की है और परम्परागत वर्णन-प्रणाली को ध्यान में रखते हुए यही स्वाभाविक भी है। वास्तव में प्रियतम से वियुक्त होने पर उनसे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ उनकी स्मृति में अत्यधिक तीव्रता से सचरित होती हैं। विरह-काल में प्रकृति के पूर्वानुभूत तत्त्व पुन. उसी रूप मे उपस्थित होकर उनकी वियोग-वह्नि में घृत के कार्य का सम्पादन करते हैं और उन्हें क्षण-क्षण में अतिशय विह्वलमना करते हुए अपने स्वरूप को निरन्तर विकास की ओर प्रेरित करते रहते हैं। यही कारण है कि उद्धव के समक्ष अपने अन्तस् की व्यथा को अभिव्यक्त करते समय भावावेग के फलस्वरूप उनका हृदय एकबारगी ही चीत्कार कर उठता है :—

> ऊधो ! सरद समय हू आयो।
> बहुतै दिवस रटत चातक तकि, लेउ स्वाति-जल पायो॥
> कबहुँक ध्यान धरत उर-अन्तर, मुख मुरली लै गावत।
> सो रसरास पुलिन जमुना की, ससि देखे सुधि आवत॥

यह एक वास्तविक और सर्वमान्य तथ्य है कि संयोग के अवसर पर उल्लास का अनुभव और अभिवर्द्धन कराने वाले तत्त्व उससे विलोम परिस्थितियों में नितान्त दुखद प्रतीत होने लगते हैं। प्राकृतिक उपकरणो का साहित्य में प्रयोग करते समय भी इसी तथ्य का परिचय उपलब्ध होता है। वियोग के अवसर पर उनके कटु प्रतीत होने के कारण ही विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण करते समय कविगण उपर्युक्त भावना का अनिवार्य रूप से आश्रय ग्रहण करते हैं। 'भ्रमरगीत' में गोप-वधुओ ने अनेक स्थानो पर प्रकृति के इस निर्मम व्यवहार के प्रति अपने असतोष की स्पष्ट चर्चा की है। उनका प्रमुख आक्षेप यही है कि प्रकृति अपने विपरीत व्यवहार से उन्हे प्रिय का विस्मरण तो क्या उनका शान्त मन से चिन्तन भी नही करने देती और उद्दीपन के द्वारा उन्हे सर्वथा विह्वल कर देती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद में उनकी इसी भावना की अत्यधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति देखिये :—

परम वियोगिनि गोविंद विनु,
कैसे वितवै दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर,
मिटे मग मोहन ग्रावन के ।।

पहिरे सुहाए सुवास सुहागिनि-
झुंडन झूलन गावन के ।
गरजत घुमरि घमड दामिनी,
मदन धनुप धरि धावन के ।।

दादुर मोर सोर सारंग पिक सो,
हैं निसा सूरमा वन के ।
सूरदास निसि कैसे विघटत,
त्रिगुन किए सिर रावन के ।।

विरह-मग्न नायक ग्रथवा नायिका द्वारा प्राकृतिक उपादानो के माध्यम से ग्रपने प्रिय के पास सन्देश प्रेपित करने की भावना हिन्दी-साहित्य में चिरकाल से प्रचलित है। कालिदास के 'मेघदूत' में इसी भावना को विशेष विस्तार प्रदान किया गया है। अपने 'विक्रमोर्वशीय' में भी उन्होने राजा पुरुरवा से ठीक इसी प्रकार के वचनो की ग्रभिव्यक्ति कराई है। हिन्दी-साहित्य ने भी संस्कृति-काव्य की इस परम्परा को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया। सूफी कवि जायसी ने इसी के फलस्वरूप ग्रपने 'पद्मावत' नामक काव्य में नागमती की विरह-दशा से सम्बद्ध प्रकरण में पक्षियों द्वारा सदेश-प्रेपण का उल्लेख कराया है। यथा :—

पिय सो कहेहु सदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहा जरि मुई, तेहिक धुआँ हम्हँ लाग ।।

ग्रपनी अतिशय मार्मिकता के कारण इस प्रकार की वचन-ग्रभिव्यक्ति ग्रोर सदेश-कथन की कल्पना हृदय पर तुरन्त प्रभाव डालती है। तुलसी जैसे महान् कवि ने भी इसकी इसी महत्ता का ग्रनुमान कर ग्रपने 'रामचरित-मानस' में सदेश- कथन न सही, राम द्वारा वियोगाकुल स्थिति में वचन-अभिव्यक्ति ग्रवश्य कराई है। सूर ने भी इस भावना की व्यापकता ग्रोर उपादेयता का ग्रनुमान कर ग्रपने 'भ्रमरगीत' में इसे ग्रनेक स्थलो पर ग्रभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होने ग्रपनी शुद्ध ग्रौर स्वाभाविक चित्रण-प्रणाली के माध्यम से गोपियों की विरह-वेदना की ग्रत्यन्त यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित की है ग्रौर

प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि प्रकृति किसी न किसी रूप मे भाव-स्पष्टीकरण में सहायक ही बने, शकट नही।

गोपियो की अवस्था उस समय और भी अधिक शोचनीय हो जाती है जब वे ज्ञान-गर्वित उद्धव के वार्तालाप और वैभिन्नय-पूर्ण क्रिया-कलाप को देखती हैं। उन्हे इस बात की कोई आशा नही रह जाती कि वे उनकी अवस्था पर द्रवीभूत होकर प्रियतम कृष्ण तक उनके अन्तस् की किसी भावना को पहुचाने में सहायक हो सकेंगे। पथिक्-वर्ग द्वारा भी मार्ग-परिवर्तन कर लेने से उनकी सदेश-प्रेषण की इच्छा पर पर्याप्त कुठाराघात हो चुका है। अत इस प्रकार की विषम परिस्थिति मे उनके समक्ष केवल एक ही उपाय अवशिष्ट रह जाता है—प्रकृति का परिपूर्ण आश्रय ! उन्हे विश्वास है कि सयोग के अवसर पर अपने आन्तरिक सहयोग से उन्हे आत्यन्तिक उल्लास की अनुभूति कराने वाले प्राकृतिक उपकरण वियोग के समय भी उनके प्रति निश्चित सहानुभूति का प्रदर्शन करेंगे। इसी आन्तर सत्य से प्रेरित होकर वे इन्दु के माध्यम से प्रिय के समीप अपने भावनात्मक सदेश को प्रेपित करती हैं :—

> दधिसुत जात हौ वहि देस।
> द्वारका हैं श्याम सुन्दर, सकल भुवन नरेस॥
> परम सीतल अमिय-तनु, तुम कहियो यह उपदेस।
> काज अपनो सारि, हमको छाँडि रहे विदेस॥
> नदनदन जगतनदन, धरहु नटवर-भेस।
> नाथ ! कैसे अनाथ छाँड्यौ, कहियो सूर सदेस॥

'भ्रमरगीत' की गोपियो की यह मूल इच्छा है कि वे अपने और प्राकृतिक सामग्री के व्यवहार में किसी ऐसे साम्य-भाव के दर्शन करें जो उनके मन को पूर्ण शान्ति प्रदान करने में सक्षम हो। इस साम्य-शोध का कारण यही है कि इसकी उपस्थिति में वे अपने हृदय की भावनाओ को अभिव्यञ्जित करने में और भी अधिक निश्चिन्त होकर उत्साहपूर्वक भाग ले सकेंगी। विरह के कारुण्य में उत्साह-भाव की चर्चा यहाँ कुछ प्रसग बाह्य अवश्य लगेगी, किन्तु यह केवल उसके प्रथम वाचन के अवसर पर ही होगा। वस्तुत इससे हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जब गोपियो के अन्तरतु में किसी प्रकार के विकल्प की स्थिति शेप न रह जाय और वे अपने हृद्गत उद्गारो को श्रोता के समक्ष पूर्ण निस्सकोच रीति से निरावृत्त करें। यही कारण है कि कालिन्दी के कृष्ण वर्ण में प्रियतम के विरह को कारण-रूप मे अनुमित करने से उन्हे पर्याप्त सतोप की

अनुभूति होती है और वे उसे अपनी पूर्ण सुहृदता प्रदान करती हैं। सम्बन्ध-स्थापन की यह भावना उनके अन्तस् में इतना अधिक प्रवेश कर गई है कि प्राकृतिक पदार्थों को इससे विलोम परिस्थिति में देखकर उन्हें अत्यधिक दुख होता है और उन कतिपय उपकरणों के प्रति उनके अन्तस् की समग्र उपेक्षा एकबारगी ही उमड पडती है। यही कारण है कि मधुवन को उल्लास हरित देखकर वे उसका तीव्र तिरस्कार करती है —

मधुवन तुम कत रहत हरे ?
दुसह वियोग स्याम सुन्दर के, ठाडे क्यो न जरे ?

तिक्त विरोध-प्रदर्शन के उपरान्त भी जब गोप-वधुएँ प्रकृति के व्यवहार में किसी अन्तर को लक्षित नही कर पाती तब उनकी व्यथा द्विगुणित हो उठती है। उस समय उन्हे प्रकृति की समग्र वस्तुएँ सारहीन प्रतीत होने लगती हैं और उनका अन्तस् गहन वेदना से भर उठता हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति के भावावेग के अनुकूल परिवर्तित होना प्रकृति के लिये नितान्त असम्भव अथवा सभ्रमम्य कार्य है, तथापि गोपियो का विरोध और वर्जन भी मनस्तत्व की दृष्टि से अत्यन्त स्वाभाविक है। इस अवसर पर अपने हृदय की व्यथा को व्यक्त करने के लिए वे जिन मार्मिक और हृदयग्राही शब्दो का प्रयोग करती हैं, वे निश्चय ही अध्येता के हृदय पर भी युगान्तरकारी प्रभाव डालते हैं। यथा —

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत,
वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवनि,
दधिसुत किरन भानु भई भुंजें॥

'भ्रमरगीत' के कवि ने कतिपय स्थलो पर प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं को क्रमागत रीति से गोपियो की शारीरिक एव मानसिक स्थितियो पर घटित किया है और इस प्रकार अभिव्यक्ति को एक मौलिक प्रणाली को सजीव रखने का स्तुत्य प्रयास किया है। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार के पदों में उन्होने कहीं-कहो स्वाभाविकता का परित्याग कर वर्णन की ऊहात्मक प्रणाली का परिग्रहण किया है, तथापि प्रकृति-चित्रण के दृष्टिकोण से ये सभी स्थल अतिशय महत्वपूर्ण बन पड़े हैं। इनके अध्ययन से हमें स्वभावतः ही सूर के प्रकृति-

विषयक सूक्ष्म ज्ञान का अच्छा परिचय उपलब्ध होता है । अन्य कवि होने के नाते उनका यह सम्पूर्ण चित्रण कल्पना पर आधृत होते हुए भी पूर्णतः अनुभूति-सजीव प्रतीत होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने प्रकृति एवं गोपिकाओं की विह्वल अवस्था के मध्य जिस साम्य का आयोजन किया है, वह भी अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ा है —

7a निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै, जब तैं स्याम सिधारे ॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी ! उर बिच बहत पनारे ॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यौ है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुन्दर, बिकल होत अति भारे ॥

बाह्य चक्षुओं के समक्ष विद्यमान न होने पर भी गोपियाँ अपने अन्तस् में सदैव श्री कृष्ण के दर्शन करने की इच्छा रखती हैं । उनकी मूल आकांक्षा यही है कि उनकी समग्र इन्द्रियाँ निरन्तर प्रिय के चिन्तन में लीन रहें । इस प्रकार की भावना को चिरन्तन रखने के लिए उन्हें प्रकृति का अनिवार्यतः ग्रहण करना पड़ता है । उनकी दृढ़ धारणा है कि प्राकृतिक उपकरणों ने अपनी सीमाओं में उनके प्रिय की सभी मुख्य चेष्टाओं को वेष्टित कर लिया है । इसी कारण वे उनकी आकृति पर आधृत अथवा उनकी अनुकृति से प्रेरित पदार्थों के प्रति स्वाभाविक अनुराग का प्रदर्शन करती हैं और अपने वियोगाकुल अन्तस् को किन्हीं अंशों में उन्हीं के माध्यम से शान्ति प्रदान करने की चेष्टा करती हैं । उनके द्वारा कोकिल से कृष्ण की वाणी का अनुकरण करने की प्रार्थना सम्भवतः इसी लिए की गई है —

कोकिल ! हरि कौ बोल सुनाव।
मधुबन तें उपहारि स्याम कहँ, या ब्रज लै कै आव ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने लक्ष्य को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए 'भ्रमरगीत' के कवि ने प्रकृति से पर्याप्त सहायता ग्रहण की है । गोपियों ने अथ से इति तक सदैव यही अनुभव किया है कि जो प्रकृति इससे पूर्व उनकी प्रमुख सहायिका थी, वही अब विरह-काल में उनकी मुख्य विरोधिनी है और उसी के कारण उनके हृदय की ज्वाला क्षण भर को भी शान्त नहीं हो पाती । यद्यपि यह सत्य है कि 'भ्रमरगीत' का विप्रलम्भ शृङ्गार मूलतः कृष्ण के मथुरा-गमन पर ही आधृत है, तथापि इतना भी नितान्त स्पष्ट है कि प्राकृतिक

वातावरण की अवस्थिति ने इस रस की चेतना को विकसित करने में उल्लेखनीय योग प्रदान किया है। प्रकृति के इस सह-भाव के कारण गोपियों के सारे अनुमान भी स्वभावतः इसी ओर प्रेरित रहते हैं। उदाहरणार्थ उद्धव के माध्यम से प्रेषित कृष्ण सन्देश के श्रवण और वाचन से गोपियों को यही प्रतीति होती है कि कृष्ण उनके समान विरह-वेदना से व्यथित नहीं हैं, अन्यथा वह उन्हें इस प्रकार ज्ञान एवं योग का उपदेश नहीं दे सकते थे। उनकी यह सम्पूर्ण धारणा केवल इसी अनुमान पर आधृत है कि जिस स्थान पर वह वास करते हैं, वहाँ प्रकृति की श्री उस रम्य रूप में वर्तमान न होगी, जिस रूप में वह व्रज में है। यथा :—

९. किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ?
किधौं वहि इन्दु हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेननि ॥
किधौं वहि देस बकन मग छाड्यौ, धर बूड़तिन प्रवेसनि।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बिसपनि ॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति, गावत गीत सहेसनि।
पथिक न चलत सूर के प्रभु पै, यासों कहौं सँदेसनि ॥

प्रकृति के इस अभिव्यंजन में कवि ने कल्पना की समाहार शक्ति का भी यथेष्ट मात्रा में उपयोग किया है। गोपियाँ प्रायः कल्पित भावनाओं के माध्यम से प्रकृति के अन्य रूप में दर्शन करने लगती हैं और इस प्रकार वातावरण में विकार उत्पन्न कर उसे एक नवीन रूप प्रदान कर देती हैं। प्रकृति का भी जैसे उन विरहिणियों के हृदय के कोमल भाग का स्पर्श करने और इस प्रकार उन्हें दुःखमग्न करने का स्वभाव-सा पड़ गया है। जब उसके उपकरण तीव्र से तीव्र वर्णनात्मक संकेतों की भी उपेक्षा कर अपनी क्रिया प्रणाली का परित्याग नहीं करते, तब स्वभावतः उन्हें अतिशय चिन्ता होती है, किन्तु निरन्तर अनुशीलन करने के उपरान्त भी वे इसके कारण की खोज करने में असमर्थ ही रहती हैं। उनकी निम्नलिखित उक्ति स्पष्टतः इसी की प्रतीक है —

१०. कोउ माई बरजै री या चंदहि।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि कुल आनंदहि ॥
कहाँ कहौ बरषा रवि तमचुर, कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिनि के तन जारे ॥
निंदति सैल उदधि पन्नग कौं, श्रीपति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी कौं, राहु केतु किन जोरहि ॥

ज्यों जल-हीन मीन तन तलफति, ऐसी गति ब्रज बालहिं ।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं ॥

गोप-वधुओं की भाँति 'भ्रमरगीत' में श्री कृष्ण भी प्रकृति के प्रति एक गहन आकर्षण के सूत्र में निबद्ध रहे हैं और उन्होंने भी उससे उद्दीप्त अथवा भाव-प्रेरित होकर अनेक प्रकार के वचनों की अभिव्यक्ति की है। ब्रज के रम्य प्रदेश में जीवन-यापन करने के पश्चात् वह मथुरा के कृत्रिम वातावरण में किसी विशेष सन्तोष अथवा प्रसन्नता की अनुभूति नहीं कर पाते। उनके चरित्र की यह विशेषता है कि जहाँ गोपियाँ केवल उनकी स्मृति के कारण ही व्यथित रहती हैं, वहाँ वह गोपियों की सुधि के साथ-साथ ब्रज के प्राकृतिक वातावरण का स्मरण करके भी दुखित होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इस वैकल्य को निराकृत करने की अपेक्षा वह प्रथमतः मथुरा में और उसके उपरान्त द्वारका में स्वयं अपनी इच्छा से ही जीवन व्यतीत करते रहे, तथापि इसकी कारण-रूप भावना उनकी अतिशय कर्मनिष्ठता और कर्तव्यशीलता ही है। वैसे ब्रज की प्राकृतिक विभूति का वह एक क्षण के लिये भी विस्मरण नहीं करते। उद्धव के प्रति कहे गए उनके निम्नलिखित शब्द निश्चय ही अत्यन्त द्रवणशील हृदय से निस्सृत हुए हैं और इसके उत्कृष्ट प्रतीक हैं :—

ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंस सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं ॥

आलम्बन और उद्दीपन-रूपों की भाँति प्रकृति का अलंकारिक रूप में चित्रण करने की प्रथा भी कवियों में चिरकाल से प्रचलित रही है। हिन्दी के आदि कवि चन्दबरदाई ने अपने 'पृथ्वीराजरासो' नामक महाकाव्य में अनेक स्थलों पर इस प्रणाली का परिग्रहण किया है। राजकुमारी पद्मावती के सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

मनहु कला ससि भान,
कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बैस ससि ता समीप,
अम्रित रस पिन्निय ॥
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर,
नैनु खजन मृग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिंब, मोति,
नष सिष अहिघुट्टिय ॥

आगे चल कर कबीर एव जायसी आदि अन्य कवियो ने भी अपने काव्य का प्रणयन करते समय इस रीति को अपनाया है। हमारे प्रतिनिधि कवि सूर ने इसे सर्वाधिक मात्रा में ग्रहण करते हुए 'भ्रमरगीत' में इसका अनक स्थलो पर सफल प्रयोग किया है। ऐसे पदो में कवि ने प्राय धर्म-साम्य पर दृष्टि रखते हुए प्राकृतिक उपकरणो को उपमान के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार की साम्य-योजना में सूक्ष्म तत्वो के सघटन के फलस्वरूप केवल वही कवि सफलता प्राप्त कर सकता है जिसकी प्रकृति के समग्र व्यापारो में अत्यन्त व्यापक गति हो। सन्तोप का विषय है कि सूर इसमें पूर्णत सफल हुए हैं और उन्होने अपने वर्ण्य को वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए जिन प्राकृतिक व्यापारो का चयन किया है, वे उपमेयो के सर्वथा उपयुक्त हैं। इस विषय में अतिशय सावधानी रखने के फलस्वरूप ही वह अपने उपमेयों को हमारे समक्ष इतने स्पष्ट रूप में अकित कर सके हैं :—

मधुकर ! वह कारे की जाति ?
ज्यो जल मीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति ॥
कोकिल कुटिल कपट बायस छलि, फिर नहिं वहि बन जाति ।
तैसेहि कान्ह केलि-रस अँचयो, बैठि एक ही पाँति ॥
सुत-हित जोग जज्ञ व्रत कीजत, बहु विधि नीकी भाँति ।
देखहु अहि मन मोह मया तजि, ज्यो जननी जनि खाति ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के 'भ्रमरगीत' में प्रकृति को उचित एव सम्यक् स्थान प्राप्त हुआ है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और इसमें प्रकृति-चित्रण के अधिकाश प्रकार उपलब्ध हो जाते हैं। कवि ने इसका सयोजन करते समय अनुभूति और सूक्ष्म अध्ययन को विशेष महत्व प्रदान किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में स्वाभाविकता और प्रवाह का विशेष विधान हुआ है। प्रकृति के रम्य क्रोड में पोपित होने के कारण उक्त कृति की समग्र भावनाएँ नितान्त सुकुमार रही हैं और इसी के फलस्वरूप इसमें प्रकृति का उग्र स्वरूप भी किन्ही अंशो में आकर्षक प्रतीत होता है।

: ८ :

तुलसी का 'रामचरितमानस'

कविवर तुलसीदास का जन्म सम्वत् १५८९ में बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। मूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण उनके माता-पिता ने उनका परित्याग कर दिया था और उनके पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा का सम्पूर्ण कार्य महात्मा नरहरिदास ने सम्पन्न किया था। उनका विवाह रत्नावली नाम्नी विदुषी कन्या से हुआ था। प्रारम्भ में वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे और क्षण भर के लिये भी उससे विलग न रह सकते थे। यहाँ तक कि एक बार जब वह उनसे बिना पूछे ही अपने पितृ-गृह चली गई तब वह भी पीछे-पीछे वहीं पहुँच गये। उस समय पत्नी की निम्नलिखित उक्ति ने उन्हे विरक्ति की ओर उन्मुख कर दिया :—

लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं हौ नाथ॥

अस्थि चरममय देह मम, ता में ऐसी प्रीति।
ऐसी जो श्री राम महँ, होति तो न भवभीति॥

तुलसी ने *'रामचरितमानस'*, *'विनय-पत्रिका'*, *'कवितावली'*, *'गीतावली'*, *'जानकी-मंगल'*, *'वैराग्य-संदीपिनी'* और *'पार्वती-मंगल'* आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनमें से 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' अत्यधिक प्रख्यात हैं। 'रामचरितमानस' का सम्पूर्ण भारतवर्ष में देव-ग्रन्थ के रूप में आदर किया जाता है। इसका महत्व केवल धार्मिक ही नहीं, अपितु साहित्यिक भी है। इसमें पारिवारिक आदर्शों को अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें काव्यत्व की मात्रा भी अपने पूर्ण रूप में वर्तमान है। वस्तुतः यह ग्रन्थ प्रत्येक दृष्टि से कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचायक है।

गोस्वामी तुलसीदास का काव्य गहन अध्ययन पर आधारित रहा है। वह वेद, वेदांग, ज्योतिष, पुराण एवं काव्य-शास्त्र आदि ज्ञान-धाराओं के पूर्ण मर्मज्ञ थे। इसी कारण उनकी रचनाओं में सर्वत्र कल्पना, अनुभूति एवम् साधना का उपयुक्त सामंजस्य उपलब्ध होता है। उन्होंने तत्कालीन प्रतिगामी परिस्थितियों की अवहेलना कर जन-मानस को शिवत्व की ओर उन्मुख करने के लिए भगवान् राम की उपासना का दृढ़ आधार ग्रहण किया और अपने काव्य के माध्यम से इस भक्ति-धारा को अजस्र रूप में प्रवाहित होने का अवसर प्रदान किया। वस्तुतः उनके काव्य में सौन्दर्य, सात्विकता और विश्वोपादेयता के सामंजस्य द्वारा सत्यत्व और श्रेयत्व का स्वतः समावेश हो गया है। इन्हीं दोनों की छाया में उन्होंने प्रेयत्व को भी विकाससम्पन्न रखा है अर्थात् उन्होंने साधारण लोक-व्यवहार को लोक-कल्याण के आधार पर उपस्थित किया है। यह तथ्य उनके 'रामचरितमानस' में सर्वाधिक उपलब्ध होता है। वस्तुतः उन्होंने अपनी सूक्ष्म अन्तर्भेदिनी काव्य प्रतिभा के द्वारा मानव हित के लिए जिस चिरन्तन सत्य का उद्घाटन किया है वह उनके हृदय की उज्ज्वलता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। उन्होंने अपने रामचरितमानस' में ज्ञान और भक्ति के विभिन्न अंगों के सम्यक् विवेचन के अतिरिक्त रसानुगुण एवम् कोमल-कान्त पदावली का भी उपयुक्त समावेश उपस्थित किया है। इस कृति की रचना करते समय उन्होंने लगभग सभी पूर्ववर्ती राम-काव्यों से उपादान ग्रहण कर इसकी आधिकारिक कथा एवम् आनुषंगिक कथाओं का संघटन किया है। आगे हम 'रामचरितमानस' का सभी पूर्ववर्ती राम-काव्यों से तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करेंगे।

तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में ईश्वर के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने का समय-समय पर प्रयत्न किया जाता रहा है और प्रत्येक भक्त ने अपनी रुचि के अनुकूल ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का आख्यान किया है। भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों में से उनका रामावतार भारतीय जनता को विशेष प्रिय रहा है और भगवान् राम की स्तुति में प्रचुर साहित्य का निर्माण किया गया है, तथापि कवियों ने उनके मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप को सदैव अगाध और अमित माना है। उदाहरणार्थ महाकवि तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

राम चरित सत कोटि अपारा।
श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥

महाकवि तुलसीदास भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। राम-चरित्र के मर्म को हृदयंगम कर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना को पूर्णतः आदर्श रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती राम साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रेरणा ग्रहण के साथ-साथ उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए राम-भक्ति को अधिकाधिक आदर्श रूप में उपस्थित किया है और उसे सर्वजनसुलभ बना दिया है। इस दृष्टि से उनके 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' नामक काव्यों का विशेष महत्व है।

'मानस' और 'वाल्मीकि रामायण'

राम-काव्य की रचना सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि ने की थी। तुलसी ने उनकी रामायण से प्रेरणा ग्रहण अवश्य की है, तथापि उन्होंने राम-कथा को अनेक स्थानों पर उससे भिन्न रूप में उपस्थित किया है। तुलसी ने ये परिवर्तन प्राय: मर्यादा रक्षण, शील-निरूपण, भक्ति के प्रबल आदर्श के संस्थापन तथा राम के अवतार-रूप के प्रतिष्ठापन के लिए किए हैं। यथा :—

(क) वाल्मीकि ने राम को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया है, किन्तु तुलसी ने राम से विभिन्न मानवीय लीलाओं का प्रतिपादन करा कर भी उनके ईश्वरीय स्वरूप की स्थापना की है और अपने 'रामचरितमानस' में राम की इस अलौकिकता की ओर अनेक संकेत किये हैं।

(ख) वाल्मीकि ने अपने काव्य में केवल प्राचीन आर्य-संस्कृति की विशेषताओं का ही निरूपण किया है, किन्तु तुलसी ने आर्य-संस्कृति के प्राचीन स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ अपने काव्य में अनेक अन्य उपासना-पद्धतियों एवं मतों का समन्वय उपस्थित किया है।

(ग) तुलसी ने 'वाल्मीकि रामायण' के सीता-त्याग-विषयक प्रकरण की कथा को सर्वगुणसम्पन्न राम के लिए अशोभनीय मानकर उसको 'रामचरितमानस' में स्थान नहीं दिया है।

(घ) वाल्मीकि ने अपने सभी पात्रों के चरित्रों को यथार्थ रूप में अनावृत रीति से उपस्थित किया है, किन्तु तुलसी ने अपने सभी पात्रों को राम-भक्ति के भाव से ओत-प्रोत दिखाया है।

(ङ) वाल्मीकि रामायण में परशुराम और राम की भेंट राम के विवाह के उपरान्त मार्ग में भी कराई गई है, किन्तु तुलसी ने रस-सृष्टि के लिए इस कथांश का त्याग कर दिया है और इस भेंट को धनुष के भंग होने तक ही सीमित रखा है।

'मानस' और 'अध्यात्म रामायण'

राम काव्य परम्परा में 'वाल्मीकि रामायण' के पश्चात् 'अध्यात्म रामायण का नाम उल्लेखनीय है। तुलसी के 'रामचरितमानस' पर इसका गहरा प्रभाव है। यथा :—

(क) 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार राम मूलतः निर्गुण ब्रह्म ही हैं और विश्व-कल्याण के लिए कभी-कभी सगुण रूप धारण करते हैं। तुलसी ने भी 'मानस' में राम के इसी स्वरूप को व्यक्त किया है —

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रम बस सगुन सो होई॥

जो गुन रहित सगुन सोई कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

(ख) इन दोनों काव्यों में सीता को परमात्मा की आदि शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है।

(ग) इन दोनों में माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप को व्यक्त किया गया है।

कथानक में इस प्रकार की अनेक समानताएँ होने पर भी मानस' की रचना 'अध्यात्म रामायण' के अनुकरण पर नहीं हुई है। 'मानस' में समाविष्ट अनेक प्रसंगों का 'अध्यात्म रामायण' में सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कुछ प्रसंगों में तुलसी ने अपनी रुचि के अनुकूल परिवर्तन भी किए हैं। यथा —

(क) 'अध्यात्म रामायण' में राम और सीता का विष्णु और लक्ष्मी से तादात्म्य स्थापित करके भी अन्त में विष्णु एवं लक्ष्मी को ही श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु तुलसी ने राम और सीता की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया है।

(ख) अध्यात्म रामायण' में ज्ञान को साध्य और भक्ति को साधन के रूप में उपस्थित किया गया है, किन्तु तुलसी ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है।

इतर सहायक ग्रन्थ

तुलसी ने अपने मानस की रचना करते समय कालिदास के 'रघुवंश' से भी प्रेरणा ग्रहण की है। 'रघुवंश' के प्रारम्भ में कवि ने विनम्रता के कारण अपने को जिस प्रकार अज्ञ, अयोग्य और असमर्थ कहा है उसी प्रकार तुलसी ने

भी 'मानस' के उपक्रम में अपनी दीनता का प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने काव्य में 'रघुवंश' की उक्तियों को भी समादृत किया है। 'योग-वाशिष्ठ महारामायण' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन्होंने अपने 'मानस' में उसके कुछ विचारों का भी प्रतिभास उपस्थित किया है। किसी-किसी स्थल पर उनकी उक्तियों में 'योगवाशिष्ठ महारामायण' की प्रतिध्वनि भी लक्षित होती है। इसी प्रकार उन्होंने अपने 'मानस' में 'प्रसन्न राघव' तथा 'हनुमन्नाटक' नामक संस्कृत-नाटकों से प्रेरणा ग्रहण की है। राम-सीता के परस्परावलोकन तथा परशुराम-लक्ष्मण सम्वाद-सम्बन्धी प्रकरणों को तुलसी ने 'प्रसन्न राघव' की रीति से ही उपस्थित किया है, किन्तु उसकी विस्तार की प्रवृत्ति का उन्होंने त्याग कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मानस' में 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' की कुछ मार्मिक उक्तियों को भी प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। तुलसी ने अपने राम-काव्य में पुराण-साहित्य से भी सहायता ग्रहण की है। 'मानस' को 'नाना पुराण-सम्मत' कहकर उन्होंने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से 'श्रीमद्भागवत पुराण', 'पद्म पुराण', 'अग्नि पुराण' और 'विष्णु पुराण' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से तुलसी ने 'भागवत' से सर्वाधिक सहायता ग्रहण की है और अपने अनेक भावों और सिद्धान्तों को उसी के आधार पर उपस्थित किया है। इसी प्रकार वर्षा और शरद् ऋतुओं का वर्णन करते समय भी उन्होंने 'भागवत' के तत्सम्बन्धी प्रकरणों का आधार ग्रहण किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने राम-कथा की रचना करते समय अपने पूर्ववर्ती राम-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने अपने राम के चरित्र में शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि मानवीय गुणों के अतिरिक्त देवत्व का भी सुन्दर सम्मिश्रण उपस्थित किया है। वास्तव में उन्होंने अपने काव्य में वाल्मीकि और कालिदास की कवित्व शक्ति और 'अध्यात्म रामायण' की आध्यात्मिकता का ऐसा अद्भुत संयोग उपस्थित किया है कि एक ओर तो 'मानस' एक आदर्श धर्म-ग्रन्थ के रूप में समादृत है और दूसरी ओर वह एक श्रेष्ठ महाकाव्य बन पड़ा है। आगे हम इस कृति के प्रबन्धत्व पर विचार करेंगे।

'रामचरितमानस' का प्रबन्धत्व

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने काव्य को प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य नामक दो भेदों में विभाजित किया है। इनमें से प्रबन्ध काव्य का आकार विशाल होता है और उसमें मानव-जीवन की विविध स्थितियों का पूर्ण चित्र अंकित किया जाता है तथा मुक्तक काव्य संक्षिप्त आकार का होता है और

उसमे मानव-हृदय के किसी एक भाव का चित्रण रहता है। प्रबन्ध काव्य में समाविष्ट विविध घटनाओं में इतिवृत का समावेश होने पर भी कवि उनमें रसात्मकता की उपयुक्त योजना करता है। कविवर तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में हमें ये दोनों ही गुण अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में प्राप्त होते हैं। उनसे पूर्व हिन्दी में केवल 'पृथ्वीराजरासो' और 'पद्मावत' नामक दो प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई थी और उन्होंने अपनी कृति को इन दोनों से ही श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। उनके 'रामचरितमानस' में प्रबंध काव्य के अनुरूप अनेक तत्वों का समावेश हुआ है। आगे हम उनमें से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे।

इतिवृत्तात्मकता

काव्य में इतिवृत्तात्मकता के समावेश द्वारा कवि उसमें इस प्रकार की घटनाओं का संयोजन करता है जो अध्येता की कुतूहल वृत्ति को तृप्त कर उसे मनोरंजन प्रदान कराने में सक्षम होती हैं। ऐसे स्थलों पर रसावेग के लिए अधिक अवसर नहीं रहता है। संस्कृत में 'हितोपदेश' और 'कथासरित्सागर' आदि रचनाओं में यही प्रवृत्ति निहित रही है और उनमें मनोरंजन की पूर्ण क्षमता वर्तमान है।

लोक दृष्टि से समन्वित काव्य-ग्रंथों में भी इतिवृत्तात्मक स्थलों की योजना अपरिहार्य होती है। इसका कारण यही है कि जन-साधारण को तृप्ति प्रदान करने के लिए रसावेग और कल्पना के स्थान पर काव्य में उन इतिवृत्तमयी घटनाओं का संयोजन कहीं अधिक प्रभावशाली होता है जो जनपदों में सामान्यत प्रचलित रहती हैं। तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' में इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर इतिवृत्तात्मक स्थलों की पर्याप्त मात्रा में योजना की है।

रसात्मकता

महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में प्रबन्ध-कल्पना करते समय इतिवृत्त निर्वाह और रस-योजना पर उचित ध्यान दिया है। इस काव्य में विभिन्न मानव दशाओं का व्यापक चित्रण हुआ है और इसमें प्रबन्ध काव्य के अनुरूप घटनाओं के रसात्मक अनुबन्धन की स्थिति निरन्तर वर्तमान रही है। कवि ने रस-योजना करते समय पात्रों की भाव-गति को तत्कालीन वातावरण के अनुरूप चित्रित करने पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने पात्रों की हृदयगत भावनाओं और सम्बद्ध वातावरण की समवेत योजना द्वारा अपने काव्य को विशेष सरसता और आकर्षण से युक्त रखा है। इस गुण से समन्वित होने के

कारण 'रामचरितमानस' का प्रत्येक काण्ड पाठक को रस की गहन अनुभूति कराने में सक्षम है।

तुलसी ने इस कृति में रस से परिपूर्ण मर्मस्पर्शी स्थलों की विशद योजना की है और प्राय उनका अध्ययन करते समय अध्येता साधारणीकृत अवस्था को प्राप्त कर स्वयं भी तदनुरूप भावनाओं का अनुभव करने लगता है। वास्तव में किसी भी प्रबन्धकाव्यकार की सफलता पाठक की इसी रसानुभूति पर निर्भर रहती है और इस दृष्टि से तुलसी ने 'रामचरितमानस' में काव्य के सभी रसों का सफल आयोजन कर उसमें रसात्मक स्थलों की उपयुक्त योजना की है। उसमें समाविष्ट 'सीता स्वयंवर', 'राम वन गमन', 'भरत-मिलाप' और 'सीता हरण' आदि प्रकरण इसी प्रकार के हैं। सीता स्वयंवर के अवसर पर कवि ने राजकुमारी सीता के सलज्ज सौन्दर्य का अत्यन्त आकर्षक रीति से वर्णन किया है। स्वयंवर के अवसर पर उनकी भावमग्नता, आत्म-विस्मृति, प्रेम-विह्वलता और मार्मिक आशङ्का का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :—

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥
बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा।
सिरिस सुमन कन बेधिअ हीरा॥

× × ×

प्रभुहि चितव पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल॥

इसी प्रकार कवि ने राम-वन-गमन के अवसर पर भी अनेक हृदयस्पर्शी परिस्थिति चित्र उपस्थित किए हैं। इस दृष्टि से 'रामचरितमानस' का वह स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य है जहाँ मार्ग में ग्राम-वधुओं द्वारा सीता से कौशलपूर्वक निम्नलिखित प्रश्न पूछा जाता है —

कोटि मनोज लजावनि हारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥

यह प्रश्न स्पष्ट ही अत्यन्त सहज रीति से किया गया है, किन्तु इसका उत्तर देना इतना सरल नहीं है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार ऐसे अवसरों पर पति का परिचय दे सकना नारी के लिए सर्वाधिक दुष्कर कार्य हो जाता है। तथापि गोस्वामी तुलसीदास ने इस समस्या का समाधान उपस्थित करते समय विशेष सहृदयता, स्वाभाविकता और मधुरता का परिचय दिया है। जिस प्रकार

ग्राम-वधुओं के प्रश्न में कहीं कोई बाधा नहीं थी, उसी प्रकार उन्होंने सीता से भी उसका अत्यन्त स्वच्छ, स्पष्ट और सहज उत्तर दिला दिया। उन्होंने वाणी द्वारा लक्ष्मण का परिचय देने के उपरान्त नेत्र-व्यापार द्वारा पति का परिचय अत्यन्त मर्यादा और शालीनता के साथ उपस्थित किया। इस विधि द्वारा कवि ने दम्पति के अगाध प्रेम का भी सुन्दर निदर्शन उपस्थित कर दिया है। आगे हम इस विषय में तुलसी की पंक्तियाँ को उद्धृत कर रसात्मकता के प्रकरण को समाप्त करते हैं —

सहज सुभाय सुभग तनु गोरे।
नाम लखन, लघु देवर मोर॥
बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी।
पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ सिय तिन सैननि॥

सम्बन्ध-निर्वाह

प्रबन्ध काव्य की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें विभिन्न घटनाओं को परस्पर सहज सम्बद्ध रूप में उपस्थित किया जाए। 'रामचरितमानस' में कवि ने घटनाओं की सम्बन्ध-योजना को बिना किसी व्याघात के अत्यन्त कुशलतापूर्वक संयोजित किया है। स्वरूप-भेद से प्रबन्ध काव्य के घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान प्रबन्ध काव्य नामक दो भेद होते हैं। इस दृष्टि से आलोच्य रचना को चरित्र-प्रधान प्रबन्ध काव्य की संज्ञा प्रदान की जाएगी।

'रामचरितमानस' में राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा तथा रावण आदि विभिन्न पात्रों के चरित्रों की सफल योजना की गई है। उन्होंने चरित्र-वैविध्य की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है और इसी कारण इसमें सत् और असत् के प्रतीक पात्रों अर्थात् क्रमशः राम और रावण के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण किया गया है। इसमें पात्रों का चरित्र विकास आरम्भ से ही स्वस्थ-सजग रहा है और उन्होंने अपनी मर्यादित गति से परिस्थितियों को प्रभावित करते हुए समष्टि रूप में लोक कल्याण की योजना की है अर्थात् उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व पर परिस्थितियों की विलोम गतियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह स्पष्ट है कि महाकवि तुलसीदास का 'रामचरितमानस' सम्बन्ध निर्वाह के गुण से युक्त चरित्र प्रधान प्रबन्ध काव्य है।

इतर गुण

प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक इतर गुणों की चर्चा करते समय हम उसकी 'महाकाव्य' नामक विधा को ध्यान में रखेंगे। महाकाव्य में जीवन के पूर्ण चित्र को मनोरम रीति से प्रस्तुत किया जाता है। अतः प्रबन्ध काव्य के रूप में 'रामचरितमानस' का अध्ययन करते समय उसमें महाकाव्य के कतिपय गुणों का अनुसधान विशेषतः अभीप्सित रहेगा। महाकाव्यत्व की दृष्टि से 'रामचरितमानस' एक सफल रचना है। यद्यपि इसकी रचना आठ सर्गों में नहीं हुई है, तथापि इसमे भगवान् राम के आदर्श जीवन का व्यक्तिगत और लोक-सम्बद्ध दृष्टिकोण से सुन्दर अंकन हुआ है। वह इस कृति के नायक हैं और लोकप्रिय पौराणिक महापुरुष के रूप में उनकी नितान्त प्रसिद्धि है। कवि ने अपने कथानक की योजना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही की है।

'रामचरितमानस' के प्रमुख पात्रों के जीवन का पर्याप्त भाग वन में प्रकृति के अंचल मे व्यतीत हुआ है। अतः कवि के समक्ष स्वभावतः प्रकृति-वर्णन के लिए पर्याप्त अवकाश विद्यमान रहा है। तुलसी ने इस सुविधा का लाभ उठाते हुए प्रकृति के अनेक निसर्ग-सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि तुलसीदास का 'रामचरितमानस' एक अत्यन्त सफल प्रबन्ध काव्य है और उसमें प्रबन्ध-योजना की विभिन्न आवश्यकताओं का सराहनीय समावेश हुआ है।

'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'

इस स्थान पर गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और महाकवि जायसी के 'पद्मावत' का तुलनात्मक अध्ययन अप्रासंगिक न होगा। इन दोनों ही कृतियों को अवधी भाषा में उपस्थित किया गया, और इस भाषा मे ये दोनों ही एकमात्र प्रबन्ध-रचनाएँ हैं। यद्यपि इन दोनों की वर्ण्य सामग्री में अन्तर है, किन्तु एक ही भाषा में रचित होने के कारण इनकी तुलना भी अपेक्षित है। इनमें से 'रामचरितमानस' लोक-पक्ष-प्रधान काव्य है और 'पद्मावत' व्यक्तित्व प्रधान रचना है। आगे हम इसी सिद्धान्त-वाक्य के आधार पर इन दोनों कृतियों का परीक्षण करेंगे :—

(१) 'रामचरितमानस' में कवि ने सभी घटनाओं की आदर्शात्मक योजना की है और सार-रूप में व्यक्ति को समाज-कल्याण का सन्देश प्रदान किया है। इस काव्य की रचना का मूल लक्ष्य साहित्य में सत्य, शिव और सुन्दर का प्रतिष्ठान करना है। यही कारण है कि इसमें मानव-जीवन की विविध दशाओं

और मानव-सम्बन्धों का अनुभूति के आधार पर विशद चित्रण उपस्थित किया गया है। इसके विपरीत कविवर जायसी ने अपने 'पद्मावत' नामक काव्य में मानव-जीवन की सम्पूर्ण योजना करते हुए भी मूलतः प्रेम-वृत्ति का ही चित्रण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस काव्य में जीवन के एक अंग-विशेष को लेकर प्रेम के आदर्श को व्यंजित करने का प्रयास किया गया है। इस वर्ण्य की सिद्धि के लिए लेखक ने विभिन्न घटनाओं की व्यक्तिपरक योजना प्रस्तुत की है।

(२) 'रामचरितमानस' में कवि ने श्रेय मार्ग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और इसके लिए लोक-नीति का निर्वाह करते हुए मर्यादा की स्थापना पर बल दिया है। इस दृष्टिकोण को ग्रहण करते हुए कवि ने जनता को शील, साधना और भक्ति का निर्मल सन्देश प्रदान किया है। इसकी तुलना में 'पद्मावत' की स्थिति अध्यात्म-क्षेत्र में सन्तोषप्रद होने पर भी लोक-क्षेत्र में गम्भीरता से शून्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस काव्य ने प्रेम-सिद्धान्त का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है, किन्तु लौकिक दृष्टि से इसके पात्रों ने कोई भी अनुगमन-योग्य कार्य नहीं किया है।

(३) 'रामचरितमानस' में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की उपासना को भक्ति का मूल साधन मान कर सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें भक्ति-प्रणाली में कर्म और ज्ञान के समन्वय पर बल दिया गया है। इसी प्रकार इसमें भक्ति को मन, वचन और कर्मों का व्यवस्थापन करने वाली कहा गया है। इसके विपरीत 'पद्मावत' में निर्गुण-भक्ति-धारा की प्रेमाश्रयी शाखा के मूल सिद्धान्तों का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है। अतः इसमें इस शाखा के सिद्धान्तों के अनुकूल ही व्यक्तिपरक आत्म-साधना तथा हठयोगी साधना-पद्धति का समावेश किया गया है।

(४) 'रामचरितमानस' में लोक-पक्ष के संरक्षण को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि इसमें लोक में विकीर्ण विविध प्रकार के चरित्रों को स्थान प्राप्त हुआ है। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इसमें पात्रों के चरित्रों को लोक-मर्यादा के अनुकूल आदर्श अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। इस दृष्टि से श्रीराम के चरित्र का सर्वाधिक आदर्श विस्तार हुआ है। इसके विपरीत 'पद्मावत' में पात्रों की संख्या पर्याप्त सीमित रही है और कवि ने रत्नसेन तथा पद्मावती के सम्पूर्ण जीवन की चर्चा करने के स्थान पर केवल उनके जीवन के प्रेम-पक्ष का ही वर्णन किया है। इस वृत्ति में रत्नसेन तथा पद्मावती

के चरित्रों में व्यक्तिगत पक्ष के प्राधान्य के कारण श्रीराम के चरित्र में प्राप्त होने वाली उदात्तता तथा लोक-निमग्नता का पूर्ण अभाव रहा है।

(५) 'रामचरितमानस' में लोक-मर्यादा का निर्वाह करने के लिए विविध घटनाओं और चरित्रों में आदर्शों का समन्वय उपस्थित किया गया है, किन्तु 'पद्मावत' में आदर्शवादिता के साथ-साथ अतिरंजित यथार्थ की भी स्थिति रही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन दोनों कृतियों की जीवन-धाराओं में मौलिक अन्तर है।

(६) इन दोनों ही रचनाओं में भक्ति को स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु उसके अतिरिक्त शृंगार रस को भी इनमें समाविष्ट किया गया है। इस दृष्टि से 'रामचरितमानस' में शृंगार रस का लोक-नीति के अनुकूल मर्यादित कथन किया गया है अर्थात् इसमें शृंगार रस के स्थूल पक्ष को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। इसके विपरीत 'पद्मावत' में व्यक्तिपरकता के कारण शृंगार रस के स्वरूप का भौतिक कथन हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि इसमें अध्यात्मिक रूपक का भी निर्वाह किया गया है, किन्तु इतना होने पर भी इसमें ऐन्द्रियता को स्पष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रामचरितमानस' का स्थान 'पद्मावत' की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। व्यक्तिगत स्वार्थ निश्चय ही लोक मंगल के समक्ष सदैव ही गौण स्थान रखते हैं। 'पद्मावत' में अध्यात्म-तत्व की स्थिति होने पर भी सर्वप्रथम हमारी दृष्टि उसके लौकिक पक्ष पर ही पड़ती है और इस दृष्टि से रत्नसेन का स्वार्थ हमारे समक्ष निरन्तर उभरता हुआ चला जाता है। 'रामचरितमानस' में प्रेम का ऐसा भौतिक कथन कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

: ६ :

बिहारी और उनकी 'सतसई'

कविवर बिहारी का जन्म संवत् १६६० में ग्वालियर राज्य में हुआ था। उनका बाल्य काल बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ था और बाद में वह जयपुर-नरेश के आश्रय में काव्य-रचना करने लगे थे। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में केवल एक 'सतसई' का ही प्रणयन किया है। उसमें मुख्य रूप से शृंगार रस के अनेक मार्मिक दोहों का संकलन हुआ है। इस एक ग्रन्थ के कारण ही उन्हें जो व्यापक ख्याति प्राप्त हुई है, वह उनकी प्रखर प्रतिभा की ही परिचायक है। उन्होंने अपनी 'सतसई' के अधिकांश छन्दों में समास-पद्धति का आयोजन करते हुए दोहे के समान संक्षिप्त छन्द में कवित्त एवं सवैये के योग्य प्रस्तुत भाव को भरने की चेष्टा की है। रूप-निरूपण तथा अनुभाव-विधान में भी उनकी समता करने वाला कोई अन्य कवि नहीं है। उनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित है और शैली विषयानुकूल रही है। शृंगार रस के अनुकूल उनकी भाव योजना एवं भाषा-शैली, दोनों ही अत्यन्त मधुर एवं हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं। बिहारी ने अपने परवर्ती कवियों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। हिन्दी की सतसई-परम्परा में उनकी 'सतसई' सर्वोपरि है। यही कारण है कि केवल 'सतसई' कहने से ही 'बिहारी सतसई' का बोध हो जाता है।

सतसई-परम्परा और बिहारी-सतसई

'सतसई' से हमारा तात्पर्य काव्य की मुक्तक विधा के अंतर्गत प्रणीत किये गये किसी आकलन-ग्रंथ से है। किसी भी छन्द के सौ मुक्तक पदों के संग्रह को 'सतसई' शीर्षक से अभिहित किया जाता है। हिन्दी में दोहा छन्द इसके लिये रूढ़ हो गया है और सभी सतसई-काव्यों की रचना प्रायः इसी छन्द में की जाती है। हिन्दी में सतसई-रचना से पूर्व भारतीय साहित्य में अन्य भाषाओं की सतसई विषयक परम्परा भी वर्तमान थी। इस प्रकार की कृतियों में प्राकृत भाषा

की 'गाथा सप्तशती' तथा संस्कृत की 'आर्या सप्तशती' के नाम उल्लेखनीय हैं। संस्कृत का 'अमरुक शतक' नामक काव्य भी प्रकारान्तर मे इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। सात सौ छन्दो से युक्त न होने पर भी उसके प्रेरक तत्व वही हैं जो किसी भी सतसई के लिये मुख्य प्रेरक रहते हैं। संस्कृत की भाँति अपभ्रंश-साहित्य में भी मुक्तक दोहो की रचना का यथेष्ट प्रचलन रहा। इस प्रकार प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनो ही भाषाओ मे सतसई, शतक और मुक्तक दोहो की रचना का पर्याप्त प्रचलन उपलब्ध होता है।

हिन्दी में सतसई-रचना का प्रारम्भ भक्ति काल से होता है। कबीर के भक्ति तथा नीति-विषयक दोहे सतसई के रूप में आबद्ध न होने पर भी दोहा-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और हिन्दी की सतसई-परम्परा की चर्चा करते समय हम उनका विस्मरण नही कर सकते। इसी प्रकार तुलसी तथा रहीम का भी भक्ति और नीति-विषयक विशाल दोहा-साहित्य उपलब्ध होता है। इस सम्पूर्ण साहित्य का हिन्दी की परवर्ती सतसई-परम्परा पर यथेष्ट प्रभाव पडा है। बिहारी ने संस्कृत के सतसई और शतक-साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। इसी प्रकार अपभ्रंश का स्वतन्त्र दोहा-साहित्य भी उनकी काव्य-भावनाओ के लिये मुख्य प्रेरक रहा है। तथापि बिहारी की यह विशेषता है कि उन्होंने इन तीनों भाषाओं के उपलब्ध दोहा-साहित्य का मौलिक रूप मे अध्ययन करते हुये परिष्कार द्वारा इनमें व्यक्त भावनाओ को भी अपनी स्वतन्त्र शैली से अभिव्यक्त किया है। विषय की विभिन्नता के कारण कबीर, दादू आदि संत कवियों के मुक्तक दोहो और तुलसी तथा रहीम की सतसई-रचनाओ का बिहारी की 'सतसई' पर अधिक प्रभाव नही पडा है, तथापि यह मानने में कोई असंगति नही होगी कि सम्भवत भक्ति काल के इन कवियो के दोहा-साहित्य के प्रभाव में बिहारी केवल शृंगारपरक दोहो की ही रचना करते और भक्ति तथा नीति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न होता।

ब्रजभाषा के सतसई साहित्य में कविवर बिहारीलाल की 'बिहारी-सतसई' का सर्वोत्तम स्थान है। उन्हे मुक्तक काव्य के सभी आवश्यक उपकरणों का प्रयोग करने में सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी लोकोत्तर काव्य प्रतिभा और सरस भाव-योजना के माध्यम से अपने दोहो में रस के एक अपूर्व सौंदर्य का संचरण कर दिया है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं गहन अन्तर्दर्शन की भावनाओ ने उन्हे स्थान-स्थान पर योग प्रदान किया है। भाव पक्ष की भाँति कला-पक्ष की अलंकृति की ओर भी कवि ने विशेष ध्यान दिया है। वस्तुत कवि ने अपनी स्वच्छ और परिमार्जित भाषा में जिस भाव-सौन्दर्य का विधान

किया है, वह सम्पूर्ण सतसई-काव्य में अप्रतिम है। बिहारी ने जीवन के विविध पक्षों का गम्भीर अनुशीलन करने के साथ-साथ मनुष्य के अन्तर के सहज सौन्दर्य का भी व्यापक अध्ययन किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में हृदय का स्पर्श करने की शक्ति का उन्मुक्त सन्निहन दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपनी व्यापक अनुभूति और कोमल कल्पना के आधार पर अपने दोहों में सर्वोन्मुखी शृंगार-चित्रों को उपस्थित करने का प्रयास किया है।

इस सतसई में शृंगार रस को ही प्रधान रूप में चित्रित किया गया है। प्रेम से सम्बद्ध समस्त मानसिक भावों को कवि ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है। भाषा और भावों के पारस्परिक सहयोग से उनके काव्य का अध्येता के हृदय पर आशा से कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में सामान्य लोक-रुचि का आभास जनता की निम्नलिखित भावनाओं में मिल जाता है :—

> व्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि-विसाल।
> सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल ॥
>
> विविध नायिका-भेद अरु, अलंकार नृप-नीति।
> पढ़ै बिहारी सतसई, जानै कवि रस रीति ॥

कल्पना की समाहार-शक्ति से समन्वित होने के कारण बिहारी अपने काव्य में मर्मस्पर्शिता का समावेश करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। अनुभावों की अप्रतिम योजना के कारण उनके दोहों में रस और सौन्दर्य का पूर्ण संचार दृष्टिगत होता है।

'बिहारी-सतसई' में मुक्तक काव्य के लिये आवश्यक सभी तत्व अपने चरम रूप में उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से उसमें प्राप्त होने वाली निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :—

(अ) समास-पद्धति-जनित अर्थ-गाम्भीर्य।
(ब) भावों का सहज और पूर्ण प्रतिपादन।
(स) भाषा में प्रवाह और माधुर्य का विधान।

समास-शक्ति से हमारा अभिप्राय अभिव्यक्ति के उस प्रकार से है जिसमें गम्भीर से गम्भीर भावों को भी सूत्र-रूप में गूढार्थ व्यंजक भाषा के द्वारा प्रकट किया जाये। बिहारी के काव्य में कल्पना की समाहार-शक्ति तथा भाव एवम् भाषा की समास-चेतना का उत्कृष्ट समन्वय हुआ है अर्थात् उन्होंने किसी विशिष्ट परिस्थिति-चित्र की कल्पना करते हुये अधिक से अधिक मार्मिक भावों को संक्षेप में अभिव्यक्त करने के कौशल का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ

'अमरुक शतक' और 'बिहारी सतसई' में एक ही भाव की अभिव्यक्ति के भिन्न रूपों की तुलना कीजिये :—

(अ) शून्य वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरम् चुम्बिता ॥

—(अमरुक शतक)

(ब) मैं मिसहा सोयो समुझि, मुहुँ चूम्यो ढिग जाइ ।
हँस्यो, खिसानी, गल गह्यो, रही गरें लपटाई ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ६४२)

बिहारी की समास-शैली

बिहारी ने अपनी 'सतसई' की रचना दोहा छंद में की है । आकार की लघुता के कारण इस छन्द की सम्पूर्ण सफलता एकमात्र कवि के समास-आयोजन-सम्बन्धी कौशल पर आधारित रहती है । इसी कारण रहीम ने इस छद के विषय में निम्नलिखित उक्ति कही है :—

दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोरे आहिं ।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमटि कूदि चलि जाहिं ॥

बिहारी के काव्य में दोहे का यह गुण सर्वत्र व्याप्त रहा है । उन्होने इस छन्द के संकुचित क्षेत्र में प्रायः अत्यन्त व्यापक अर्थों वाले भावों की योजना की है । इस विषय में उनकी सफलता का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि उन्होंने अपने संक्षिप्त दोहों में ही सांग रूपक तक की योजना कर डाली है । यथा —

खौरि-पनिच, भ्रकुटी धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि ।
हनत तरुन मृग, तिलक-सर सुरक भाल, भरि तानि ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या १०४)

बिहारी की समास-पद्धति की समग्र विभूति उनके अनुभाव-विधान पर आधारित रही है । रंगमंच पर अभिनय करते समय साधारणतः जिन चेष्टाओं को उपस्थित करने के लिये संबंधित पात्रों को अपेक्षाकृत अधिक समय तथा श्रम का व्यय करना पड़ता है उन्हें ही बिहारी ने अपने समास-कौशल से दोहे में अत्यन्त सहज रीति से प्रतिपादित कर दिया है । बिहारी की इस प्रतिभा के

कारण उनके दोहे और भी अधिक आकर्षक तथा प्रभावशाली बन गये हैं। यथा :—

> कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
> भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सब बात॥
>
> —(बिहारी-रत्नाकर, दोहा संख्या ३२)

बिहारी ने अपने दोहों में भाषा एवम् भावों, दोनों में ही समास पद्धति का अत्यन्त कौशलपूर्वक निर्वाह किया है। उन्होंने अपने भावों को इस प्रकार उपस्थित किया है कि संक्षिप्त अभिव्यक्ति से युक्त होने पर भी कल्पना के आधार पर हम सम्पूर्ण चित्र का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। अनावश्यक विस्तार का परित्याग करते हुये उन्होंने अपने दोहों में केवल नितान्त अपेक्षित शब्दों को ही प्रयुक्त किया है। यथा :—

> डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
> कंपि किसोरी दरस के, खरे लजाने लाल॥
>
> —(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ६०१)

बिहारी के पश्चात् मतिराम, रसलीन, विक्रम आदि अनेक कवियों ने रीति काल में उन्हीं के अनुकरण पर सतसई-रचना की, किन्तु समास-कौशल के अभाव में उनकी रचनाओं में उस मार्मिक एवम् व्यापक दृष्टि का समावेश न हो सका जो 'बिहारी-सतसई' में उपलब्ध होती है। वास्तव में वृन्द कवि को छोड़कर शेष सभी परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य का प्रणयन करते समय बिहारी से यथेष्ट प्रेरणा ग्रहण की है। रीति काल की भांति आधुनिक काल में भी विभिन्न सतसई-प्रणेताओं ने 'बिहारी-सतसई' से प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रकार के कवियों में सर्व श्री दुलारेलाल, रामेश्वर 'करुण' एवम् वियोगी हरि मुख्य हैं। वियोगी हरि जी ने अपनी 'वीर-सतसई' में रस की विभिन्नता होने पर भी अत्यन्त कौशलपूर्वक बिहारी के दोहों से प्रेरणा ग्रहण की है और उनका उपयोग करते हुये अपने दोहों को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य की सतसई-परम्परा में 'बिहारी-सतसई' का स्थान अप्रतिम है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में 'श्रीमद्भगवद्गीता' के पश्चात् 'राम-गीता' और 'देव-गीता' आदि उसी कोटि की अन्य कृतियों का विशेष गौरव प्राप्त न हो सका, उसी प्रकार हिन्दी-काव्य में भी 'बिहारी-सतसई' के समक्ष किसी भी अन्य सतसई को उसके समान महत्व की उपलब्धि न हो सकी।

बिहारी की बहुज्ञता

बिहारी की बहुज्ञता से हमारा तात्पर्य उनके साहित्य-विषयक ज्ञान के अतिरिक्त वैद्यक, नीति-शास्त्र, वेदान्त आदि विषयों के ज्ञान से है। वास्तव में साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और विभिन्न विषयों के ज्ञान का उसमें सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया जा सकता है। इसी कारण संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य मम्मट ने साहित्यशास्त्र में बहुज्ञता के गुण की स्थिति को भी अनिवार्य माना है। बहुज्ञ होने के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि कवि गणित, वैद्यक और नीति शास्त्र आदि विभिन्न विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त करे। उसके लिये इन विषयों का ऐसा सामान्य ज्ञान ही पर्याप्त है जिससे वह किसी प्रकार की भ्रांति में न पड़े। साधारणत: काव्य में इस प्रकार की उक्तियों का समावेश न होना चाहिये जो गणित वैद्यक आदि में से किसी विशिष्ट विषय की अभिव्यक्ति करती हों। काव्य का लक्ष्य रसोद्रेक करना है और इसी कारण कवि भावों के रागात्मक प्रतिपादन पर बल देते हैं। अत: कवि को स्थान-स्थान पर अपनी बहुज्ञता का सप्रयास प्रदर्शन न करना चाहिये, अपितु उसे केवल उपयुक्त स्थलों पर ही अपने व्यापक ज्ञान का परिचय देना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी कवि की बहुज्ञता का वास्तविक अर्थ यही है कि वह अपने विविध विषय-विषयक ज्ञान का काव्य-सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिये उपयोग करे।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से महाकवि बिहारी की 'सतसई' का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म अनुभूति से युक्त होने के कारण वह निश्चय ही बहुज्ञ कवि थे। उन्हें दर्शन-शास्त्र आयुर्वेद, गणित, नीति-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, पुराण, नट-कौशल आदि विभिन्न विषयों का सामान्य ज्ञान था और उन्होंने अपने काव्य में इस ज्ञान का कौशल-पूर्वक समावेश किया है। यद्यपि यह सत्य है कि यह ज्ञान सामान्य कोटि का ही है, किन्तु इसे उपस्थित करने के लिये उन्होंने जिस प्रणाली को ग्रहण किया है वह सर्वथा मौलिक और प्रशंसनीय है।

दर्शन-शास्त्र

बिहारी के अनेक दोहों में दर्शन शास्त्र-विषयक ज्ञान का समावेश हुआ है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह दर्शन-शास्त्री ही थे। वास्तव में भारतवर्ष की गहन दार्शनिक परम्परा के कारण यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की दर्शन-शास्त्र में सामान्य गति रहती है। बिहारी के विषय में भी हम यही

कहेंगे, तथापि दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये उन्होंने जिस प्रणाली को अपनाया है वह सराहनीय है। यथा :—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

—(*बिहारी-रत्नाकर, दोहा संख्या १८१*)

आयुर्वेद

बिहारी को आयुर्वेद का भी सामान्य ज्ञान था। आयुर्वेद-शास्त्र में विषम ज्वर के लिये सुदर्शन चूर्ण को उत्तम औषधि माना गया है। बिहारी ने श्लेष की सहायता से नायिका के विरह की व्यंजना करते समय इस आयुर्वेद-ज्ञान का भी परिचय दिया है :—

यह बिनसतु नगु राखि कै, जगत बडौ जसु लेहु।
जरी बिषम जुर जाइयै, आइ सुदरसनु देहु॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या १२०)

गणित

बिहारी ने गणित के विषय में अपने सामान्य ज्ञान का परिचय दो-तीन दोहों में दिया है। मस्तक पर बिंदी लगाने के पश्चात् नायिका की विकसित छवि का वर्णन करते हुए उन्होंने इसी ज्ञान का परिचय दिया है :—

कहत सबै, बेंदी दियैं, आँकु दसगुनो होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढतु उदोतु॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ३२७)

नीति-शास्त्र

बिहारी ने अपनी 'सतसई' में नीति-विषयक अनेक दोहों की रचना की है। उनकी नीति-सम्बन्धी उक्तियाँ अपने आप में पर्याप्त प्रभावोत्पादक बन पड़ी हैं। दैनिक जीवन में इस प्रकार की उक्तियों का स्पष्ट उपयोग हो सकता है। यथा :—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

—(बिहारी रत्नाकर, दोहा-संख्या ३२१)

ज्योतिष-शास्त्र

बिहारी ज्योतिष-शास्त्र के विशेष ज्ञाता थे। उनके तत्सम्बन्धी दोहों का अध्ययन करने पर उनके ज्योतिष-विषयक गंभीर ज्ञान का परिचय मिल जाता है। यही कारण है कि ये दोहे सामान्य पाठक के लिये बोधगम्य नहीं रहे हैं। जैसे :—

सनि-कज्जल चख-भख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ५)

इस प्रकार की शास्त्र-सम्मत उक्तियाँ काव्य के प्रवाह और सौन्दर्य में स्पष्ट ही बाधा उपस्थित करती हैं। सतोष का विषय है कि बिहारी ने ज्योतिष-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में ऐसी विशिष्ट उक्तियों का कथन नहीं किया है।

पुराण-ज्ञान

बिहारी को पौराणिक कथाओं का भी साधारण परिचय था। इस विषय में कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत के संधारण से सबद्ध निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है :—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजानै लाल॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-सख्या ६०१)

नट-कौशल

बिहारी ने कुछ दोहों में नटों के कौशल का भी दिग्दर्शन कराया है। इस प्रकार के दोहे चित्रात्मक और विशेष आकर्षक बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ संयोग-काल में नायक और नायिका के परस्पर दर्शन का नटों की कार्य-प्रणाली के आधार पर निम्नलिखित वर्णन देखिये —

डीठि बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहिं उतहिं चित दुहुनु के, नट लौं आवत जात॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-सख्या १९३)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारी को सामान्य व्यावहारिक तथ्यों का उचित ज्ञान था और उन्होंने अपने काव्य में उसे प्रतिभा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के आधार पर कुशल रीति से उपस्थित किया है। साहित्य के अतिरिक्त इन विभिन्न

विषयों में भी उनकी पर्याप्त गति थी। साहित्यिक ज्ञान की दृष्टि से तो वह निश्चय ही बहुज्ञ थे। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया था। उनकी भाषा भी अत्यन्त सशक्त है और शब्द-शक्तियों, वृत्तियों तथा गुणों का भी उनके काव्य में सुन्दर सामंजस्य हुआ है। रसों की दृष्टि से भी उन्होंने शृंगार, शान्त, वीर और हास्य नामक विविध रसों का उचित प्रयोग किया है। वास्तव में उनका साहित्यिक ज्ञान अत्यन्त गंभीर था और इसी कारण वह अपनी काव्य-रचना के लक्ष्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। बहुज्ञता की दृष्टि से बिहारी अपने युग के कवियों में सबसे अधिक सफल रहे हैं। जहाँ केशव ने बहुज्ञता-प्रदर्शन के लोभ में प्रयास का आश्रय लेकर अपने काव्य में कृत्रिमता का समावेश किया है, वहाँ बिहारी ने अपने काव्य में विविध श्रेणियों के ज्ञान को अनायास ही सुन्दर रीति से समाविष्ट कर दिया है। यही कारण है कि उनके काव्य का अध्ययन करते समय जहाँ अध्येता उनके व्यापक लौकिक ज्ञान से प्रभावित होता जाता है वहाँ उनकी सहज अभिव्यंजना शैली भी उसे रसमग्न करती रहती है।

बिहारी के काव्य का भाव-पक्ष

बिहारी से पूर्व हिन्दी-काव्य में कबीर, तुलसी तथा रहीम आदि विभिन्न भक्तिकालीन कवियों का भक्ति एवम् नीति-विषयक दोहा-काव्य ही उपलब्ध होता है। शृंगार रस को लेकर दोहों की रचना करने का कार्य सर्वप्रथम महाकवि बिहारी ने ही किया। उनसे पूर्व रीति काल के अन्य कवियों ने दोहे से इतर छन्दों में शृंगार रस की अभिव्यक्ति की थी, किन्तु दोहे-जैसे संक्षिप्त छंद में शृंगार रस के जीवन-व्यापी अनुभव को व्यक्त करने का श्रेय बिहारी को ही प्राप्त है। शृंगार रस के क्षेत्र में बिहारी ने अपनी भावनाओं को उपस्थित करते समय प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश के सतसई तथा शतक-काव्य तथा स्वतंत्र दोहों से प्रेरणा ग्रहण की है। तथापि मौलिक चेतना से युक्त होने के कारण उन्होंने इस सतसई-बद्ध और सतसई-मुक्त दोहा-काव्य को आधार-रूप में ग्रहण करने पर भी भाव-प्रतिपादन की दृष्टि से अपने विशेष निजीपन का परिचय दिया है। बिहारी से पूर्व दोहे जैसे लघु छन्द में हिन्दी का कोई अन्य कवि समास-शक्ति की उद्भावना न कर सका था। बिहारी ने समास-योजना द्वारा अपने काव्य को उत्कृष्ट अर्थ-गाम्भीर्य प्रदान किया है। यही कारण है कि व्रजभाषा की सतसई-परम्परा में उनकी रचना को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त रहा है। इस विषय में निम्नलिखित प्रचलित जनोक्ति विशेषतः द्रष्टव्य है :—

व्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल।
सबकी भूषण सतसई, रची विहारीलाल ॥

रस की दृष्टि से 'विहारी-सतसई' में प्रमुख रूप से शृंगार रस को ही ग्रहण किया गया है। इसके अंतर्गत कवि ने नायक और नायिका, दोनो को ही आलंबन के रूप में स्वीकार करते हुये उनके रूप के प्रभाव का पृथक-पृथक कथन किया है। इस प्रकार के रूप-चित्र अपने आप मे विशेष मधुर तथा आकर्षक बन पडे हैं। यथा :—

(1) नायिका का रूप चित्रण—

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
प्याले ओठ, प्रिया-वदन, रह्यो लगायें नैन ॥

(ii) नायक की सौन्दर्य-छवि—

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाइ ॥

—(विहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ४१७)

सयोग शृंगार के अन्तर्गत आलम्बनगत चेष्टाओं का वर्णन रस-प्रकर्ष के लिये अत्यधिक अपेक्षित रहता है। विहारी ने अनुभाव-विधान द्वारा इस रस-व्यंजना की सृष्टि स्थान-स्थान पर अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से की है। उनके अनुभाव विधान मे मौलिकता, प्रभावात्मकता और संक्षिप्त भाव-गति-प्रतिपादन आदि सभी गुण पूर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। आगे हम इस विषय में उनका एक श्रेष्ठ छन्द उद्धृत करते हैं —

त्रिवली, नाभि दिखाई, कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि ॥

—(विहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ८८)

विहारी ने विप्रलभ शृंगार से सम्बन्धित दोहो की भी रचना की है, किन्तु वर्णन की ऊहात्मक पद्धति के कारण उनके काव्य में इसका अधिक निर्वाह न हो सका है। अनेक स्थलो पर उनके द्वारा उपस्थित की गई विरह उक्तियाँ अपने आप में वास्तविकता से काफी दूर हो गई हैं। वस्तु-निष्ठ कलाकार होने के नाते विहारी के काव्य में हृदय को प्रभावित करने वाले तत्वों का सहज सन्निहन हुआ है। उनके दोहा में रस के आवेगात्मक प्रवाह की अपेक्षा उसका अत्यन्त सयमित गति से निर्वाह हुआ है। यही कारण है कि उनके वियोग-वर्णन

ऊहात्मक होते हुए भी कहीं-कहीं हृदय की असीम वेदना की व्यंजना भी उपस्थित करते हैं। उनके वियोग-चित्र स्मृति की भावना से ही अधिक अनुप्राणित रहे हैं। उनकी विरहिणी नायिका ने प्रियतम के पास जिन संदेशों अथवा पत्रिकाओं का प्रेषण किया है उनमें रस की व्यंजना उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से उनके निम्नलिखित दोहे में नायिका के विरह की सुन्दर व्यंजना मिलती है :—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ६०)

यह अवस्था ठीक वैसी ही है जैसी 'रत्नाकर' जी के 'उद्धव-शतक' में उद्धव की उस समय होती है जब वह ब्रज की गोपियों से विदा होते हैं।

शृंगार रस के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' में शान्त रस को ही प्रमुख अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। शेष रस वहाँ बहिष्कृत नहीं हैं तो कम से कम उनका स्थान अत्यधिक गौण अवश्य है। भक्ति-चेतना से युक्त उनके सभी छन्द अपने आप में अत्यन्त भावपूर्ण बन पड़े हैं। इसी प्रकार उन्होंने नीतिमूलक तथ्यों का भी श्रेष्ठ और सात्विक प्रतिपादन किया है। आगे हम उनका भक्ति विषयक एक शांत रस का छन्द उपस्थित करते हैं —

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा, विपति बिदारन हार॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ६१)

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' में कृष्ण, राधा, गोप-वधुओं और ईश भक्तों को स्थान प्राप्त हुआ है। कवि ने राधा-कृष्ण के प्रेम का विस्तृत वर्णन किया है। इसी प्रकार गोपियों के प्रति कृष्ण के प्रेम-भाव का भी रीतिकालीन परम्परा के अनुसार कथन हुआ है। गोपियों का प्रेम कहीं स्वाभाविक रहा है, कहीं अत्युक्तिपूर्ण हो गया है और कहीं-कहीं उसमें समाज-विरोध भी प्राप्त होता है अर्थात् उनके प्रेम-संबंधी कुछ पद वर्तमान समाज-परम्परा से भिन्न हैं। भक्त जनों की विनयशील और उपालंभमयी भक्ति-भावना के चित्र अंकित करते हुये कवि ने उनके हृदय का भी उपयुक्त विकास अंकित किया है।

१९ बिहारी के काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रायः उद्दीपन-रूप में ही हुआ है। तत्कालीन परम्परा के अनुसार यही अपेक्षित भी था, तथापि कहीं-कहीं

बिहारी ने उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति के शुद्ध आलम्बन-चित्र भी अंकित किए हैं। यथा :—

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर भौंरत-झंपत, भौंर-भौंर मधु अंध॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ४६६)

भक्ति और नीति

भारत में प्राचीन काल से ही उपभोग की अपेक्षा संयम पर बल दिया गया है और इस प्रकार भौतिकता का निराकरण कर आध्यात्मिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं के साहित्य में भी अध्यात्म-तत्व को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप बिहारी ने भी मूलतः शृंगार रस के कवि होने पर भी कतिपय दोहों में भक्ति-भावना का समावेश किया है। इन दोहों में उनके अन्तस् का भक्ति-भाव सहज-सुन्दर रूप में स्फुरित हुआ है। बिहारी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि एवम् अनुभूति से सम्पन्न कवि थे। जीवन के विविध तथ्यों एवम् वांछित आदर्शों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने 'सतसई' में मानव-जीवन के विकास में योग प्रदान करने वाली अनेक सूक्तियों की रचना की है। उनका यह नीति-प्रतिपादन अपने आप में उतना ही श्रेष्ठ बन पड़ा है जितना वृन्द और रहीम आदि नीति-कवियों का है।

बिहारी ने अपने काव्य में राधा और कृष्ण की भक्ति की है। 'सतसई' के मंगलाचरण के दोहे में भी राधा के प्रति उन्होंने अपने भक्ति-भाव का प्रदर्शन किया है। कृष्ण के सगुण-रूप का अंकन करते समय उन्होंने एक ओर तो उनके बाह्य आकर्षण का कथन किया है और दूसरी ओर उनके ईश्वरीय स्वरूप को स्पष्ट किया है। कृष्ण की शोभा का चित्रण करते समय उन्होंने उनके शरीर के विभिन्न आभूषणों, पीत पट और मयूर-चंद्रिका आदि का उल्लेख किया है। कृष्ण के महत्व का प्रतिपादन करते समय उन्होंने एक ओर तो पौराणिक आख्यानों से सहायता ग्रहण करते हुये कृष्ण द्वारा दावानल-पान और गोवर्धन-धारण जैसी घटनाओं का उल्लेख किया है और दूसरी ओर उनके प्रति अपने भक्ति-भाव का कथन किया है। भक्ति के इन दोहों की रचना स्वतन्त्र रूप में भी हुई है और शृंगारात्मक दोहों में रूपक द्वारा भक्ति-प्रतिपादन की प्रणाली को भी कवि ने अपनाया है।

बिहारी ने भगवान् के निर्गुण एवम् सगुण, दोनो ही रूपो को स्वीकार किया है, तथापि उनके सगुण स्वरूप की आराधना ही उन्हें अधिक प्रिय रही है। उन्होने भगवान् विष्णु के राम और कृष्ण-रूप में कोई विशेष अंतर नही किया है। उन्होने राम और कृष्ण, दोनो को ही समान रूप से ईश्वरीय प्रतिभा से समन्वित माना है और अपनी सहायता के लिए दोनो का ही आह्वान किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे में राम और कृष्ण के अंतर का सर्वथा विस्मरण करते हुये प्रथम पंक्ति में कृष्ण का स्मरण किया गया है और द्वितीय पंक्ति में गिद्ध (जटायु) के उद्धारक श्री राम का उल्लेख किया गया है :—

कौन भांति रहिहै बिरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै, गीधे गीधहिं तारि ॥

—(बिहारी रत्नाकर, दोहा-संख्या ३१)

बिहारी ने अपने भक्ति-काव्य मे सूर के सख्य भाव और तुलसी के दास्य भाव का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। जहाँ उन्होंने सूर की भांति भगवान् को स्थान-स्थान पर उपालम्भ दिये है और उन्हे चुनौती दी है वहाँ अनेक बार उन्होने अत्यन्त दीन होकर तुलसी की भांति भगवान् के प्रति विनय-भाव भी प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ —

(i) सख्य भाव —

मोहि तुम्हें बाढी बहस, को जीतै, जदुराज।
अपने अपनें बिरद की, दुहू निबाहन लाज ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ४२७)

(ii) दास्य भाव :—

कीजैं चित सोई तरे, जिहि पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न, गोपीनाथ ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या २२१)

भगवान् की वास्तविक भक्ति उसी समय संभव है जब भक्त बाह्य आडम्बरो का परित्याग कर ईश्वर से अभेद संबंध की स्थापना करने के लिए पूर्णतः प्रयत्नशील हो जावे। कबीर आदि निर्गुण कवियो ने भक्ति की इस आवश्यकता की ओर प्रायः संकेत किया है। बिहारी ने भी इसको अनिवार्य मानते हुये सच्चे हृदय से ईश-भक्ति करने पर बल दिया है। आगे हम इस संबंध

में कबीर और बिहारी की उक्तियों को क्रमशः उपस्थित करते हैं :—

माला फेरत जुग भया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि कै, मन का मन का फेर॥
—(कबीर-बीजक)

जपमाला छापे, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥
(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या १४१)

बिहारी ने निर्गुण कवियों की भाँति माया के स्वरूप का भी उल्लेख किया है और मुक्ति के मार्ग में उसे प्रमुख बाधक तत्व माना है। उनकी परम इच्छा यही है कि वह निरन्तर ईश्वर के सान्निध्य में रहें और इस सुख के समक्ष मोक्ष-प्राप्ति की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं है।

बिहारी की भक्ति-भावना किसी विशेष भक्ति-सम्प्रदाय अथवा वाद के बंधन में आबद्ध नहीं की जा सकती और उनके भक्ति-संबंधी दोहे प्रायः सभी मतों का स्पर्श करते हैं। उन्होंने सगुण और निर्गुण नामक दोनों ही उपासना-पद्धतियों के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है। इसी प्रकार अन्य भक्ति-सम्बन्धी विचार-धाराएँ भी उन्होंने ग्रहण की हैं, तथापि उनमें से किसी भी एक के प्रति उनका विशेष आग्रह नहीं रहा है। वास्तव में उनकी भक्ति हृदय की सहज प्रेरणा से युक्त है। इसी कारण वह कहते हैं —

अपने अपने मन लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सब कौं सेइबो, एकै नंदकिसोरु॥
—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा संख्या २८१)

नीति-प्रतिपादन

काव्य-रचना में पटु होने के साथ-साथ बिहारी जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी पर्याप्त गति रखते थे। इसी प्रतिभा के परिणामस्वरूप उन्होंने अनुभव के आधार पर नीति के अनेक सुन्दर दोहों की रचना की है। ये दोहे अपने आप में अत्यन्त सशक्त एवम् प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। जीवन की विविध कठिनाइयों में मानव की समस्याओं का समाधान उपस्थित करने की क्षमता इन दोहों में पूर्णत वर्तमान है। कवि ने प्राय विभिन्न नैतिक आदर्शों का उत्कृष्ट वर्णन किया है। इन आदर्शों का सम्बन्ध सुख, दु ख, मित्रता, सत्संग, मानव-प्रकृति, मिथ्रता, दानशीलता और नववय में असावधानी आदि

विभिन्न विषयों में है। बिहारी की गहन अंतर्दर्शन की भावना ने नीति-प्रतिपादन करते समय उनकी पर्याप्त सहायता की है। अपनी कवित्व-क्षमता का आश्रय ले कर उन्होंने नीति-शास्त्र की शुष्क उक्तियों को भी प्राय: अत्यन्त सरस तथा प्रभावोत्पादक बना दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे में चित की सात्विकता से संबद्ध नैतिक उक्ति का सरल प्रतिपादन देखिये :—

> जौ चाहत चटक न घटै, मैलो होइ न, मित्त।
> रज राजसु न छुवाइ तौ, नेह चीकनौं चित्त॥
> —(बिहारी-रत्नाकर, दोहा-संख्या ३६६)

जीवन को सरस, सयमित और सात्विकता से परिपूर्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को जीवन के यथार्थ के साथ-साथ उसके आदर्श स्वरूप का भी समय समय पर बोध कराया जाए। साहित्य द्वारा यह कार्य और भी सरल हो जाता है। बिहारी ने इस आवश्यकता के अनुरूप ही अपने काव्य में विभिन्न नैतिक तथ्यों का उल्लेख किया है। अपनी उक्तियों को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने प्राय मूल विषय के साथ-साथ कोई उज्ज्वल दृष्टांत भी उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे में नल के उदाहरण द्वारा दुष्ट मनुष्य की प्रवृत्ति पर उन्होंने सराहनीय प्रकाश डाला है :—

> कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतहिं बीचु।
> नल बल जलु ऊँचै चढ़ै, अन्त नीच कौ नीचु॥
> —(बिहारी रत्नाकर, दोहा-संख्या ३४१)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारी ने शृंगार रस की भाँति अपने काव्य में शान्त रस का भी उत्कृष्ट निरूपण किया है। उनकी भक्ति-भावना और नीति प्रतिपादन-शैली की तुलना भक्ति काल के किसी भी कवि के काव्य से की जा सकती है। उन्होंने जीवन की समस्याओं का व्यापक रूप से अध्ययन किया था और यही कारण है कि उनके नीतिपरक छन्दों में अनुभूति की भावना स्पष्टतः परिलक्षित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि बिहारी ने इस दिशा में सीमित काव्य की ही रचना की है, तथापि इसमें कोई सदेह नहीं है कि उनके भक्ति और नीति-विषयक दोहे प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से नितान्त रमणीय बन पड़े हैं।

१०

गुप्त जी का काव्य-चिन्तन

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सम्वत् १९४३ में जिला झाँसी के चिरगाँव नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण जी भगवान् राम के अनन्य भक्त थे और उन्होंने गुप्त जी के हृदय में भी उन्हीं भावों को भर दिया था। गुप्तजी के काव्य में वैष्णव-भक्ति-पद्धति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। भाषा और भाव-नियोजन के विषय में प्रारम्भ में उन्होंने स्वर्गीय प॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी पर्याप्त सहायता ग्रहण की थी। उनके अनुज श्री सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के एक उत्कृष्ट कवि हैं। गुप्त जी की कृतियों में 'भारत-भारती', 'साकेत', 'यशोधरा', 'गुरुकुल', 'पञ्चवटी,' 'सिद्धराज','जयद्रथ-वध', और 'अजित' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाभारत के कथानक को लेकर लिखा गया उनका 'जयभारत' नामक महाकाव्य उनकी नवीनतम रचना है। गुप्त जी ने काव्य-रचना करते समय किसी विशेष वाद को ग्रहण नहीं किया है, तथापि उनकी कृतियों में युग की सभी मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। गुप्त जी की भाषा अत्यन्त सरल और स्वच्छ है। प्रसाद गुण से युक्त होने के कारण उनकी कृतियाँ हृदय का सीधे स्पर्श करती हैं। उनके काव्य की मूल विशेषता उसमें व्याप्त राष्ट्रीय भाव धारा पर आधारित है। राष्ट्र-प्रेम का जैसा उज्ज्वल चित्र में हमें उनकी रचनाओं में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र विरल ही है।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यिक व्यक्तित्व वर्तमान काल के द्विवेदी युग से प्रारम्भ होकर अब तक अत्यन्त प्रखर रूप में विकसित होता रहा है। उन्होंने हिन्दी-काव्य को विभिन्न परिस्थितियों में संघर्ष और विकास करते हुए देखा है और यही कारण है कि उनके साहित्य में इन सभी स्थितियों के व्यापक चित्र उपलब्ध होते हैं। गुप्त जी के काव्य का मूल विषय वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय की गति-विधि को स्पष्ट करने से सम्बन्धित है। वह वर्तमान युग के राष्ट्रकवि हैं और उनका प्रयत्न सदैव यही रहा है कि राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न वार्ताओं को वर्तमान राष्ट्रीयता की छाया में विकसित करें। यही कारण

है कि उनका व्यक्तित्व अपने काव्य-सृजन में आदि से अन्त तक गम्भीर चिन्तन से युक्त रहा है और उन्होंने अपने काव्य की प्राचीन विषय-सामग्री को वर्तमान की नवीन उद्भावनाओं के अनुसार अत्यन्त कौशलपूर्वक सज्जित किया है। *उनके काव्य-चिन्तन के मूल रूप से तीन पक्ष रहे हैं* :—

(१) वैष्णव-धर्म की स्थापना के लिये राम-काव्य का सृजन।

(२) जनता को राष्ट्रीय जागृति प्रदान करने के लिये तद्विषयक काव्य की रचना।

(३) काव्य की नित्य-नूतन उद्भावित होने वाली प्रवृत्तियों के सामञ्जस्य की स्थापना।

यह सत्य है कि इनके अतिरिक्त भी समाज तथा साहित्य के विषय में अनेक समस्याएँ गुप्त जी के समक्ष उपस्थित रही हैं, तथापि उनकी चेतना मुख्य रूप से इन्ही उपरोक्त विषयों पर केन्द्रित रही है। इन तीनों का स्वरूप क्रमश उपासना, जन-जीवन और साहित्य से सम्बद्ध है। आगे हम इन सभी पर सक्षेप में विचार करेंगे।

ईश्वर-भक्ति

उपासना के क्षेत्र में गुप्त जी की भाव-धारा मूलत भगवान् राम की ओर प्रेरित रही है, तथापि विश्व के अन्य धर्म सम्प्रदायों के प्रति भी उनके हृदय में पूर्ण सम्मान है। श्रीराम की भाति ही उन्होंने भगवान् कृष्ण के व्यक्तित्व को लेकर 'द्वापर' की अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में रचना की है। इसी प्रकार मुसलमानो के धर्म-गुरुओ और तीर्थ स्थानो के प्रति भी उनके हृदय में पूर्ण सम्मान है। उनके 'काबा और कर्बला' नामक काव्य का अध्ययन करने पर हमें इसका स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। उपासना की विभिन्न प्रणालियो और उपास्यो की चर्चा करते समय उनका व्यक्तित्व अधिकाश में चिन्तनमय ही रहा है। भारत के दो प्रसिद्ध धर्म-सम्प्रदायो—बौद्ध धर्म और सिक्ख धर्म—की मूल भावनाओं को स्पष्ट करने के लिये भी उन्होंने 'यशोधरा' और 'गुरुकुल' की रचना की है और इनमें उनका गहन चिन्तन स्पष्टत परिलक्षित होता है।

गुप्त जी आस्तिक कवि हैं और ईश्वर की अनन्त शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास है। वह समस्त ब्रह्माण्ड को एक ही विभु की ज्योति से आलोकित मानते हैं और जीवन में प्रगति के लिये उसी के आश्रय का समर्थन करते हैं। ईश्वर के विषय में उनका स्पष्ट चिन्तन यही है कि वह प्रत्येक जन को समान रूप से —य है और प्रत्येक के प्रति उनका समान अनुराग है। ईश्वर के प्रभाव को वह

अत्यन्त व्यापक मानते हैं और उनकी करुणा में उनका अखण्ड विश्वास है। यह प्रवृत्ति हमें उनके प्रत्येक काव्य में किसी न किसी रूप में निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाती है। उनकी काव्य-रचनाओं के प्रारम्भ में प्राप्त होने वाले मंगलाचरण भी इसी के प्रतीक हैं। तर्क और बौद्धिक आग्रह का परित्याग कर उन्होंने वर्तमान युग में हमारे समक्ष जिस निर्मल और भावमयी भक्ति चेतना का उद्‌भावन किया है, वह निश्चय ही अप्रतिम होने के साथ-साथ जन-कल्याण-कारी भी है। 'किसान' नामक काव्य-ग्रंथ की निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने मानव की समग्र पापमयी वृत्तियों का ईश्वर की चिरगुणमयी शक्ति में सहज समाहार माना है —

हम पापी ही सही, किन्तु तुम हमें उबारो,
दीनबन्धु हो, दया करो अब और न मारो।
करके, अपना कोप शान्त, करुणा कर तारो,
अपने गुण से देव! हमारे दोष बिसारो॥

जन-जीवन का संस्कार कर राष्ट्र-जागरण को व्यापक आधार पर आयोजित करना गुप्त जी को विशेष प्रिय रहा है। तुलसी की भाँति उन्होंने भी लोक-धर्म की विशद आदर्शवादी व्याख्या उपस्थित की है। अपने काव्य-जीवन के प्रारम्भ में ही 'भारत-भारती' के समान भव्य और युगान्तरकारी रचना उपस्थित कर उन्होंने उपर्युक्त क्षेत्र में अपनी इसी अभिरुचि का परिचय दिया है। अपनी अन्य कृतियों में भी उन्होंने इसका क्रमशः संस्कार करते हुए इसे निरन्तर उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। ('भारत-भारती' की भाँति ही 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी हमें इसके उतने ही प्रौढ दर्शन होते हैं।) इस प्रवृत्ति का नितान्त परिपक्व रूप उनके नवीनतम काव्य 'जय भारत' में उपलब्ध होता है। इस कृति में उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं की जितनी सजग-सशक्त अभिव्यक्ति की है, उतनी उनकी अन्य किसी भी रचना में उपलब्ध नहीं होती।

राष्ट्रीय भावना

हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य का सृजन करने वाले व्यक्तियों में गुप्त जी का महत्व यही है कि उन्होंने राष्ट्र-धर्म का प्रतिपादन करने से पूर्व भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का विशेष अध्ययन किया है और वर्तमान की संघर्षशील परिस्थितियों की आधार भूमि पर उनका स्वतन्त्र विश्लेषण किया है। राष्ट्र की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र कर उन्होंने उसे एक इकाई माना है और उसके निवासियों को पारस्परिक भेद-विभेद से पृथक रहने का उचित

परामर्श दिया है । उनके साहित्य में प्राप्त होने वाली राष्ट्र-कल्याण की विस्तृत योजना इसी चिन्तन-प्रणाली की स्वाभाविक परिणति है। 'जय भारत' में उनकी ये सभी भावनाएं एक स्थान पर स्पष्ट रूप में प्राप्त हो जाती हैं। इस कृति में उन्होंने प्राचीन संस्कृति के आधुनिक नेत्रों से दर्शन किये हैं और 'महाभारत' के कथानक पर आधारित होने के कारण इसके विग्रहात्मक वर्ण्य में अपनी भाव-प्रवण आत्मा का मिश्रण किया है। इस प्रकार पाण्डव-युग की सम्पूर्ण गति और अगति इस काव्य में एकबारगी ही साकार हो उठी है और कवि के प्राण उसकी आदर्शवादी स्थापना कर पूर्णतः तन्मय हो गये हैं।

समाज-दर्शन —

राष्ट्र-जागरण को आवश्यक मान कर कवि ने उसके विधान के लिये जिन परिस्थितियों को आवश्यक माना है, उनमें सामाजिक प्रयोगों की स्थिति मुख्य है। उन्होंने व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि के हित चिंतन में अधिक विश्वास प्रकट किया है और समाज दर्शन के अनुकूल जनवादी विचार-धारा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। सामाजिक कुरीतियों के निराकरण को वह राष्ट्र-जागरण के लिये भूमिका के रूप में मानते हैं और इसी कारण उन्होंने 'भारत-भारती' के अनेक छन्दों में प्राचीन की भव्य संस्कृति को श्रेयात्मक मानते हुए वर्तमान की विगलित भाव परम्परा की तीव्र निंदा की है। दो क्षण की अस्थिर मनोवृत्ति के कारण आधुनिक वातावरण में पोषित व्यक्ति सम्मिलित परिवार-प्रथा की जो निंदा करने लगते हैं, उसका विरोध करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है —

> इस गृह कलह से ही, कि
> जिसकी नींव है अविचार की—
> निंदित कदाचित् है प्रथा,
> अब सम्मिलित परिवार की।
>
> पारस्परिक सौहार्द्र अपना,
> अन्यथा अश्रान्त था।
> हाँ, सु 'वसुधैव कुटुम्बकम्,'
> सिद्धान्त यह एकान्त था॥

गुप्त जी को भाग्यवाद पर तनिक भी विश्वास नहीं है। उनकी कर्म-फल पर दृढ़ आस्था है और उन्होंने व्यक्ति को निरन्तर कर्मशील रहने का ही सन्देश प्रदान किया है। भाग्यवाद के सिद्धांत को वह अनीश्वरवादी व्यक्तियों की व्याख्या

मानते हैं और सपरिश्रम जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की भावनाओं को ही आदर्श मानते हैं। उन्होंने विश्व को सुख और दुःख, दोनों से ही समन्वित माना है और आज के विज्ञानवादी जगत् के विषय में तो उनकी यह मान्यता और भी स्पष्ट है। वह जीवन को प्रयोगशील मान कर किसी प्रयोग को सुख और शान्ति की ओर प्रवृत्त मानते हैं और किसी को दुःख और वेदना की ओर। इसी कारण उन्होंने भविष्य में आशा की सुखद रश्मियों के दर्शन किये हैं और निरन्तर उद्योगरत रहने पर बल दिया है। अनिष्ट की आशंका से कर्म का ही परित्याग कर देने को वह कायरता का द्योतक मानते हैं। उदाहरणार्थ 'विश्व-वेदना' नामक काव्य से उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये —

निकलता है यदि एक प्रयोग,
उसी के साथ दूसरा रोग।
मान कर इसे भाग्य का भोग,
छोड़ बैठें क्या हम उद्योग ?

गुप्त जी ने जीवन और जगत् के विषय में इस प्रकार से अनेक स्थलों पर चिन्तन किया है। जगत को अनित्य मानकर भी वह उसे व्यक्ति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त विहार-स्थल मानते हैं और उसी के अंचल में उसकी भावनाओं को विकसित होते हुए देखना चाहते हैं। इसका कारण यही है कि वह ईश्वर को सर्वनियन्ता और सर्वव्यापक मान कर कर चले हैं। अपनी इसी आस्तिकता के फलस्वरूप वह विश्व के सन्तापों और उसके मायात्मक बन्धनों की तनिक भी चिंता नहीं करते और उनकी भावना सदैव शान्ति की ओर प्रेरित रहती है। उन्हें इष्ट केवल इतना है कि आराध्य राम से उनका तनिक भी विच्छेद न हो और दोनों का सम्बन्ध चिरस्थायी बना रहे। उस अवस्था में जीवन-मार्ग में आने वाले समग्र अवरोधों को वह क्षणिक और नश्वर मानने को सहज प्रस्तुत हैं। इस प्रकार मानवीय और ईश्वरीय व्यक्तित्वों के मध्य इतने निकट सम्बन्ध को स्थापित करने की भावना निश्चय ही अत्यन्त प्रशंसनीय है। 'अजित' काव्य का निम्नलिखित उद्धरण इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है —

राम, हमारे राम, तुम्हारे बने रहें हम,
जीवन के संघर्ष हर्ष के संग सहें हम।
प्रभो, मुक्ति दो हमें, हाय ! किस भाँति कहें हम ?
बँधे गुणों से रहें, कहीं भी क्यों न वहें हम !

चिन्तन सदैव फलदायी होता है। गुप्त जी ने आत्म-चिन्तन भी किया है और बाह्य चिन्तन भी। 'अजित' में नारायण की स्मृति को साकार करते हुए उन्होंने इसी बाह्य चिन्तन को सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्रदान की है। वैसे प्रारम्भ का बाह्य दर्शन ही कालान्तर में अन्तर्दर्शन में परिवर्तित हो जाता है। गुप्त जी के काव्य में उनके इस व्यक्तित्व का क्रमशः अत्यन्त गहन विकास होता गया है। 'जय भारत' की रचना तक उनका यह बाह्य दर्शन परिपक्व होते-होते अपनी चरमावस्था तक पहुँच गया है। इस कृति में समाज-दर्शन (अनुभूति) और कवि के अन्तर्दर्शन का अत्यन्त उपयुक्त समन्वय हुआ है। आस्तिकता से प्रेरित होने के कारण उनका यह चिंतन अपने युग के अन्य कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस चिंतन के परिणामस्वरूप ही उनके हृदय में विश्वास की अदम्य ज्योति का जागरण सम्भव हो सका है और वह निश्चिन्त हो कर कह सके हैं :—

तब जीवन का गान, बजे जब मारू बाजा।
मेरा शासक कौन ? आप मैं अपना राजा !

—(अजित)

नारी-जीवन की गति-विधि को कल्याणमय स्तर पर सयोजित करना भी गुप्त जी को नितान्त अपेक्षित रहा है। नारी की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसके प्राचीन से ले कर अब तक के जीवन पर गम्भीर दृष्टि-पात किया है। वर्तमान युग की पीड़िता नारी के प्रति उनके हृदय में अजस्र सहानुभूति है और उसकी व्यथा का निराकरण करने के लिए उन्होंने उसके समक्ष जीवन के अनेक उपयुक्त आदर्श उपस्थित किए हैं। नारी के प्रति उनकी इस व्यापक सद्भावना का परिचय हमें उनके द्वारा चित्रित उर्मिला, यशोधरा, सैरन्ध्री एव शकुन्तला आदि पात्रों से भली प्रकार हो जाता है। नारी के प्रति उनकी यह मगल-कामना अपने आप में किसी प्रकार के सकुचित क्षेत्र में आबद्ध नहीं है और इसका स्वरूप अत्यन्त विशद है। 'यशोधरा' में उन्होंने नारी-जीवन के सत्य को जिस सरल और सक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त प्रशसनीय है :—

अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

साहित्य-सिद्धान्त

साहित्य के विषय में गुप्त जी का चिन्तन बहुमुखी है। उनके कवि-जीवन का प्रारम्भ द्विवेदी युग में हुआ था और तब से अब तक वह साहित्य के क्षेत्र

में अनेक प्रकार के गतिरोधों को उत्पन्न और निराकृत होते हुए देख चुके हैं। उनके समक्ष छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद आदि के रूप में साहित्य की अनेक नवीन धाराओं का जन्म हुआ है। एक गम्भीर साहित्य-मनीषी के रूप में उन्होंने उन सभी का परिचय प्राप्त किया है और अन्त में उन्हें अपने हृदय में अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से पचा लिया है। यही कारण है कि उनके काव्य में वर्तमान युग की प्राय सभी प्रचलित विचार-धाराएँ सकेत-रूप में प्राप्त हो जाती हैं और फिर भी उन्होंने अपने एक स्वतन्त्र साहित्यिक व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखा है।

गुप्त जी का साहित्यिक चितन अत्यत विशद है। उन्होंने कला, कल्पना, छन्द और सौन्दर्य आदि विविध तत्वों के विषय में अपनी मान्यताओं को अत्यत स्पष्ट रीति से उपस्थित किया है। इन विषयों के सम्बध में उनका चिंतन युगीन वातावरण से पर्याप्त प्रभावित रहा है और उसमें मौलिकता तथा गाम्भीर्य का नितान्त उपयुक्त समावेश हुआ है। गुप्त जी रस और भावना में आस्था रखने वाले कवि हैं और उनकी कृतियों में इन्ही दोनों को मूल स्थान प्राप्त हुआ है। वह साहित्य को व्यक्ति के अभावों की पूर्ति की ओर ले जाने वाला मानते हैं और साहित्यकार के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि वह वर्ण्य वातावरण का अध्ययन करने के उपरा त उसे अपने हृदय के रस से समन्वित कर नितान्त नूतन रूप में उपस्थित करे। साहित्य को वह यथार्थ से ऊपर आदर्श की स्थापना करने वाला मानते हैं और इसी कारण उन्होंने 'साकेत' में लक्ष्मण द्वारा उर्मिला के समक्ष कला की निम्नलिखित व्याख्या कराई है —

जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।

× × ×

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किंतु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये॥

उपसंहार

गुप्त जी ने अपने काव्य में समाज, साहित्य और ईश्वरीय तत्व के विषय में अत्यंत उत्कृष्ट विचार व्यक्त किये हैं। भावनात्मक होने पर भी उनका व्यक्तित्व पर्याप्त चिंतनमय रहा है और उन्होंने वस्तु का चित्रण करते समय उसे अपने हृदय की रागात्मकता से समन्वित करने के साथ-साथ उसमें अपने मानसिक चिंतन का भी सम्मिश्रण किया है। इस प्रकार उनके समक्ष प्रत्येक भौतिक पदार्थ के दो रूप वर्तमान रहे हैं। इनमें से एक का सम्बंध उसके स्थूल बाह्य सौंदर्य से है और दूसरा उसके सूक्ष्म तुलनात्मक स्वरूप को स्पष्ट करता है। काव्य के क्षेत्र में इन दोनों का समष्टिगत रूप सर्वाधिक ग्राह्य रहता है और अपने काव्य में इसे नितान्त शुद्ध रूप में उपस्थित कर गुप्त जी ने निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी रचना सूक्ष्म और स्थूल, अलौकिक और लौकिक, आदर्श और यथार्थ, सभी प्रकार के व्यवहारों के संधि-सूत्र से हुई है। उनका काव्य अनुभूति, साधना, चिंतन और कल्पना से युक्त रहा है। वस्तुतः इससे प्रेरणा ग्रहण करने के कारण ही वह मानव-जीवन के लिए विशेष उपयोगी हो गया है और व्यक्ति की अवरुद्ध चेतना को उससे विशेष गति प्राप्त होती है।

: ११ :

'पंचवटी' का काव्य-सौष्ठव

'पंचवटी' श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त की चिर-प्रसिद्ध संक्षिप्त काव्य-कृति है। उनकी लोकप्रिय रचनाओं में 'भारत-भारती' के पश्चात् इसी काव्य का नाम लिया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों मे ही इस कृति के तीस संस्करण समाप्त हो चुके हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि काव्य-प्रेमियों ने इसे अत्यंत सहृदयतापूर्वक अपनाया है। इतना होने पर भी इस रचना की व्यापक आलोचना अभी तक नहीं की गई है। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध में भी 'पंचवटी' का पूर्ण विश्लेषण उपस्थित नहीं किया गया है, तथापि इसके काव्य-सौंदर्य पर यथासम्भव पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त ने वर्तमान युग में वैष्णव-भक्ति-काव्य की रचना करते हुए राम-भक्ति के सहज प्रतिपादन की विशेष ओर ध्यान दिया है। उनके राम-भक्ति-विषयक काव्यों में 'साकेत' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उसके उपरान्त उनके 'पंचवटी' नामक काव्य का ही नाम लिया जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि खण्ड-काव्य होने के कारण इस कृति में सम्पूर्ण राम-कथा के स्थान पर उसके एक अंग-विशेष को ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, तथापि स्पष्टता, मधुरता और भावपूर्णता की दृष्टि से इस काव्य का राम-काव्य-परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें उन्होंने वन गमन के उपरान्त श्रीराम के पंचवटी-निवास की परिस्थितियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

काव्य का प्रणयन केवल तभी होता है जब कवि उसके लिए किसी विशिष्ट प्रेरणा का अनुभव करता है। यह प्रेरणा प्रतिभा से परिचालित होती है और कवि का भाव-विस्तार इसी पर अवलम्बित रहता है। जो काव्य-प्रेरणा जितनी ही व्यापक होती है, उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप भी उतना ही विशद होता है। 'पंचवटी' के मूल में इस तथ्य की पूर्णतः शोध की जा सकती है। इस कृति की प्रेरणा का स्रोत लक्ष्मण का चरित्र है। गुप्त जी ने राम-काव्य में लक्ष्मण के त्याग के उचित मूल्यांकन का अभाव पाकर ही इस

काव्य की रचना का सफल किया था। अपने पूर्ववर्ती काव्य में उपेक्षित पात्रों के व्यक्तित्व का पूर्ण उद्घाटन करना उन्हें सदा से ही प्रिय रहा है। उनकी इस विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति को 'साकेत', 'यशोधरा', 'सिद्धराज', 'हिडिंबा', 'रग में भंग' आदि विविध रचनाओं में सहज ही लक्षित किया जा सकता है। 'पंचवटी' में भी लक्ष्मण के चरित्र की विविधतामयी अभिव्यक्ति उपस्थित कर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। यह प्रेरणा सक्षिप्त कलेवर वाली नहीं थी। अत इसके आधार पर काव्य-सृजन का कार्य भी किसी एक साधारण मुक्तक कविता के रूप में सम्पन्न नहीं हो सकता था। यही कारण है कि गुप्त जी ने इसे एक खण्ड-काव्य के रूप में पल्लवन प्रदान किया।

किसी भी काव्य के रचना-सौष्ठव पर विचार करते समय हमें उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अध्ययन करना होता है। यह निर्विवाद है कि काव्य-शिल्प की अपेक्षा काव्य-भावना का अधिक महत्व होता है और कतिपय अपवादों को छोड़कर प्राय. कवियों ने इसी को दृष्टि-पथ में रख कर काव्य-रचना की है। द्विवेदी युग में काव्य-रचना का यह सत्य और भी अधिक मुखर हो उठा था। कविवर मैथिलीशरण ने अपने काव्य की रचना न केवल द्विवेदी युग में की थी, अपितु उनके काव्य पर श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तिश. प्रभाव रहा था। यद्यपि यह सत्य है कि द्विवेदी जी की भाषा-विषयक सजगता को ग्रहण कर उन्होंने 'पचवटी' में कलात्मक सौन्दर्य की योजना की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है, किन्तु इस कृति में भी मूलवर्ती स्थान भाव-सौन्दर्य को ही प्राप्त हुआ है। तथापि प्रस्तुत निबन्ध का लक्ष्य इन दोनों ही काव्य-विशेषताओं का अध्ययन उपस्थित करना है। इस दृष्टि से 'पचवटी' के भाव-सौन्दर्य का मूल्यांकन करने के लिए हम उसमें रस-योजना, सम्वाद-योजना, प्रकृति-चित्रण और चरित्र-चित्रण के स्वरूप को देखेंगे तथा उसके कला-पक्ष के विवेचन के लिए हम उसमें भाषा-स्थिति, शैली-प्रयोग, छन्द-योजना और अलकार-निर्वाह पर विचार करेंगे।

रस-योजना

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में रस के महत्व का व्यापक प्रतिपादन किया गया है। 'नाट्य-शास्त्र' के प्रणेता भरत मुनि से लेकर साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ तक अनेक साहित्य-शास्त्रियों ने रस-महत्व की घोषणा की है। अत काव्य में रस की निरन्तर स्थिति सहज-सिद्ध है। वस्तुत काव्य में रस-स्थिति के कारण ही पाठक उसके प्रति आकर्षण का अनुभव कर अलौकिक आनन्द

की प्राप्ति कर पाता है अन्यथा उसे कथावस्तु में अधिक आनन्द कदापि नहीं आ सकता। 'पचवटी' के कथानक का विकास प्रकृति की रंग-स्थली में होता है। अत नैसर्गिक परिस्थितियों के प्राधान्य के कारण इस काव्य में रस-समावेश के लिए अधिक सुविधाएँ थीं। यद्यपि खण्ड-काव्य में सभी काव्य-रसों के समावेश के लिए स्थान नहीं होता और उनका पूर्ण विस्तार केवल महाकाव्य में ही प्राप्त हो पाता है, तथापि 'पचवटी' में शृ गार रस, शान्त रस, वीर रस, भयानक रस और अद्भुत रस के रूप में विविध रसों को उचित अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। हिन्दी के खण्ड-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि इस रस-वैविध्य के लिए अन्य कृतियों में प्राय स्थान नहीं रहा है।.

'पचवटी' में कवि ने शृ गार रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है। इसमें शृ गार रस के सयोग पक्ष को ही अपनाया गया है और वियोग शृ गार की दृष्टि से केवल एक स्थान पर लक्ष्मण को संक्षिप्त रीति से उर्मिला का स्मरण करते हुए दिखाया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि इसके कथानक में सयोग शृ गार के वर्णन के लिए ही अधिक अवकाश था, तथापि लक्ष्मण के वियोग-विह्वल हृदय की निश्चय ही पूर्णत उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अत कवि ने उक्त वियोग का सकेत कर अपनी कृति की शृ गार-रस-विषयक अपूर्णता से पर्याप्त सीमा तक रक्षा कर ली है। सयोग शृ गार को सामान्यत रूप चित्रण, प्रेम वार्ता, कामोद्दीपक प्रसगोद्भव और शारीरिक मिलन आदि विविध सूक्ष्म और स्थूल श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। कथानक की विशिष्ट परिसीमाओं के कारण गुप्त जी ने 'पचवटी' में एक ओर तो शूर्पणखा के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए शृंगार रस के प्रेरक रूप को ग्रहण किया है और दूसरी ओर शूर्पणखा की लक्ष्मण और राम के प्रति एक-पक्षीय प्रेम-वार्ता को उपस्थित किया है।

नारी के रूप का चित्रण काव्य का सर्वाधिक प्रचलित विषय रहा है। यह रूप-चित्रण नारी की आयु और स्थिति -विशेष के अनुसार परिवर्तनीय होता है। इस दृष्टि से आयु के अनुसार बाला, (नवयौवना) और प्रौढ़ा नायिकाओं तथा स्थिति के अनुसार स्वकीया और परकीया नायिकाओं के रूप में स्वभावत सूक्ष्म अन्तर आ जाता है। नारी द्वारा पुरुष के हृदय में प्रथम प्रेमोद्बोधन और प्रेम विशारद नायक के प्रेम-भाव में भी अन्तर होता है। प्रथम अवस्था में पुरुष के मन में रूपासक्ति होती है, किन्तु द्वितीय स्थिति में उसका अधिकाशत विलोप हो जाता है और उसका स्थान कर्तव्य-भावना ले

लेती है। आलोच्य कृति में शूर्पणखा के रूप-प्रसार और लक्ष्मण तथा राम की उसके प्रति उपेक्षा का यही रहस्य है। उन दोनों के लिए वह नारी-रूप का प्रथम अवलोकन नहीं था और वे दोनों ही विवाहित थे। अतः सभी प्रकार से प्रयास करने पर भी शूर्पणखा उन्हें आकर्षित करने में अन्ततः असफल ही रही। वैसे गुप्त जी ने उसके सौन्दर्य का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया है और सौन्दर्य-वर्णन को पूर्णतः स्वाभाविक रूप प्रदान करने के लिए उसका प्राकृतिक उपकरणों से भी सम्बन्ध स्थापन किया है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए —

कटि के नीचे चिकुर-जाल में,
उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से,
लोल कमल भौंरों के साथ ॥
दायाँ हाथ लिए था सुरभित—
चित्र - विचित्र - सुमन - माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर
मनसिज ने झूला डाला !

—(छन्द-संख्या ३३)

इतर रस

शृंगार रस के उपरान्त 'पंचवटी' में शान्त रस को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है। मानव की उग्र भावनाओं का नियमन करने के कारण इस रस का काव्य में अपना विशिष्ट महत्व रहता है। यह रस मानव को शृंगार रस की उद्दामता से विरत कर नैतिकता की ओर उन्मुख करता है। इस दृष्टि से कवि ने 'पंचवटी' में राम और लक्ष्मण के मुख से अनेक सुन्दर नीति विषयक उक्तियों को उपस्थित कराया है। ये सभी उक्तियाँ सत्य से अनिवार्यतः प्रेरित रही हैं और इनमें दोनों ही पात्रों के आत्म चिन्तन की गहनता का स्पष्ट परिचय उपलब्ध होता है। अन्य रसों में गुप्त जी ने इसमें लक्ष्मण के वीर भाव का चित्रण करते हुए वीर रस की भी सुन्दर योजना की है। यद्यपि यह सत्य है कि इसमें युद्धोद्बोधन, युद्ध-प्रयाण और युद्ध आदि वीर रस से सम्बद्ध विविध तत्वों की स्थिति नहीं रही है, तथापि लक्ष्मण के 'उत्साह' भाव का चित्रण करते हुए कवि ने संकेतात्मक रूप में इसी का आयोजन किया है। शूर्पणखा द्वारा रमणीय वेष के त्याग और विकराल वेष को धारण करने से सम्बद्ध प्रकरण में कवि ने भयानक रस और अद्भुत रस का सुन्दर समन्वय उपस्थित

किया है। यद्यपि यह सत्य है कि हमारे यहाँ पुराण-साहित्य में राक्षसों द्वारा माया के बल पर रूप-परिवर्तन की अनेक घटनाओं का उल्लेख किया गया है, किन्तु 'पंचवटी' का अध्ययन करने वाला पाठक सहसा यह कल्पना नहीं कर पाता कि कवि ने जिस नारी के सौन्दर्य का इतना मनोमुग्धकारी चित्रण किया है वह अन्ततः भीषण आकृति-युक्त राक्षसी निकलेगी। इस विषय में कवि ने शूर्पणखा के वेष-परिवर्तन को जिस नाटकीय चंचलता के साथ उपस्थित किया है वह शैली की दृष्टि से प्रशंसनीय होने के साथ-साथ प्रभाव सृष्टि की दृष्टि से पाठक को अधिक भय तथा आश्चर्य की ओर ले जाने वाली है। अतः यह स्पष्ट है कि गुप्त जी को एक ही छन्द में भयानक रस और अद्भुत रस का समन्वय उपस्थित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यथा :—

गोल कपोल पलट कर सहसा
बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से,
ओठ लपालप लत्तों से !

कुन्दकली-से दाँत हो गए,
बढ़ वराह की डाढ़ों से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस,
प्रकटे पूरी बाढ़ों-से !

—(छन्द-संख्या १११)

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'पंचवटी' में शृंगार रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और संक्षिप्त काव्य-रचना होने पर भी कवि ने इसमें रस-वैविध्य और काव्याकर्षण की योजना के लिए इतर रसों को उपयुक्त स्थान प्रदान किया है। रस की स्थिति काव्य-पुरुष के लिए आत्मा के समान होती है। अतः काव्य में रस-योजना की ओर कवि जितना ही अधिक ध्यान देता है उसे काव्य-प्रणयन में उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होती है। सन्तोष का विषय है कवि ने आलोच्य कृति में आदि से अन्त तक रस की स्थापना द्वारा काव्य-गति को रम्य बनाए रखा है।

सम्वाद-योजना

यद्यपि यह सत्य है कि सम्वाद-योजना नाटक की एक विशिष्ट आवश्यकता है और काव्य के लिए वह अनिवार्य नहीं है, तथापि कतिपय सम्वाद-युक्त काव्य-रचनाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में

सम्वाद-योजना से एक विशिष्ट नाटकीय प्रवाह का आकर्षक सचार हो, जाता है। गुप्त जी ने प्रस्तुत कृति में मधुर और उग्र, दोनो प्रकार के सम्वादो की योजना कर इसकी कथावस्तु को विशेष नाटकीयता प्रदान की है। उनके सम्वादो की यह विशेषता है कि उनके कारण कथा को कही भी आघात नही पहुँचने पाया है। किसी-किसी स्थान पर कवि ने एक ही पद्य में दो दो सम्वादो को उपस्थित करते हुए इस क्षेत्र में अपनी विशेष कुशलता का भी परिचय दिया है। प्रत्येक भिन्न छन्द में भिन्न व्यक्ति की उक्ति को उपस्थित करना तो प्रबन्ध काव्य के लिए एक साधारण-सी बात है, किन्तु एक ही छन्द में दो व्यक्तियों के वार्तालाप या भाव-गति को आघात पहुँचाए बिना आयोजन कर सकना प्रत्येक कवि के वश की बात नहीं है। उदाहरणार्थ लक्ष्मण-शूर्पणखा-सम्वाद की निम्नलिखित प्रवाहपूर्ण योजना देखिए :—

> "पर किस मन से वरूँ किसी को ?
> वह तो तुम से हरा गया !"
> "चोरी का अपराध और भी,
> लो यह मुझ पर धरा गया !"
> "झूठा ?" प्रश्न किया प्रमदा ने
> और कहा—"मेरा मन हाय !
> निकल गया है मेरे कर से,
> होकर विवश, विकल, निरुपाय !"
>
> —(छन्द-सख्या ५७)

मानव-हृदय वाणी-विलास में सदा से ही पर्याप्त रुचि रखता आया है। अत. मानवीय सम्वादो को भी स्वभावत सूक्ष्म आधार पर अनेक रूपों में विभक्त किया जा सकता है। यद्यपि प्रस्तुत कृति में सम्वादो का प्रवृत्तिनि-बद्ध आश्रय नही लिया गया है, तथापि इसमें कोई सन्देह नही है कि इसके विविध सम्वाद अपने आप में अत्यन्त आकर्षक बन पडे हैं और उनके कारण काव्य के भाव-सौष्ठव में कही भी आघात नही पहुँचा है। इस दृष्टि से कवि ने लक्ष्मण के चिन्तन-समन्वित आत्म-सम्वाद की नितान्त मौलिक रीति से योजना की है। इस काव्य के अन्य सम्वादों में लक्ष्मण-शूर्पणखा-सम्वाद का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इस सम्वाद में भोग और त्याग की परस्पर विरोधी भावनाओ के सघर्ष का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। इस कृति का तृतीय मुख्य सम्वाद लक्ष्मण-सीता-सम्वाद है। इसमें विनोद का सुन्दर पुट उपलब्ध होता है। गौण सम्वादो में

कवि ने राम-सीता-सम्वाद, राम-लक्ष्मण-सम्वाद, राम-शूर्पणखा-सम्वाद और सीता-शूर्पणखा-सम्वाद की योजना की है। सम्वाद-योजना में कवि को स्पष्टता, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता और मार्मिकता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। 'पंचवटी' के सम्वादों में ये सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध हो जाती हैं।

चरित्र-चित्रण

यद्यपि यह सत्य है कि 'पंचवटी' में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है, तथापि इसमें उपलब्ध होने वाले राम, लक्ष्मण और सीता के चरित्र जिस महत् भावना से युक्त हैं उसके आधार पर मानव-चरित्र का पर्याप्त विश्लेषण उपस्थित किया जा सकता है। वैसे भी खण्ड-काव्य में चरित्र-वैविध्य के प्रदर्शन के लिए अधिक अवकाश नहीं होता है। इतना होने पर भी प्रस्तुत कृति में कवि ने सम्वाद-योजना के कारण प्रत्येक चरित्र को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। यह एक नायिका-विहीन खण्ड-काव्य है और इसमें लक्ष्मण को नायक का स्थान प्राप्त हुआ है। इससे कवि की मौलिक काव्य-दृष्टि का पर्याप्त बोध होता है। लक्ष्मण को उनका उचित गौरव प्रदान कर साहित्य में उनके प्रति प्रचलित उपेक्षा का निराकरण करने के अतिरिक्त उन्होंने नायिका-विहीन काव्य की रचना द्वारा भी नवीन परम्परा की स्थापना की है। सामान्यतः राम-काव्यों में राम को ही नायक का पद प्रदान किया जाता रहा है, किन्तु गुप्त जी ने इस परम्परा को तोड़ कर अपने 'साकेत' नामक महाकाव्य में भी लक्ष्मण को ही नायक का स्थान प्रदान किया है। तथापि 'पंचवटी' और 'साकेत' के लक्ष्मण में मौलिक अन्तर है। जहाँ 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र में पर्याप्त निष्क्रियता वर्तमान रही है और केवल उर्मिला का पति होने के नाते उसे नायकत्व प्राप्त हुआ है वहाँ 'पंचवटी' में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। प्रस्तुत कृति में लक्ष्मण का चरित्र प्रारम्भ से ही व्यक्त, स्पष्ट और प्रमुख रहा है।

'पंचवटी' में कवि ने आदर्शवाद की स्थापना करते हुए अपने पात्रों को लोक-मंगल की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इसमें तुलसी की भाँति राम के चरित्र में मर्यादा और आदर्शों का समन्वय उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार इसमें प्राप्त होने वाला सीता का चरित्र भी नारी की सहजता, विनोद-प्रियता और वाग्विदग्धता का स्पष्ट प्रतीक है। उनकी उक्तियों में परिस्थिति-परिवर्तन के अनुसार सजग उल्लास, सशंकित भय और शिष्ट व्यंग्य आदि विविध भावनाओं का मनोहारी समन्वय हुआ है। लक्ष्मण को कवि ने एक कर्तव्यरत और युवक के रूप में उपस्थित किया

है। यद्यपि यह सत्य है कि इसमें लक्ष्मण के चरित्र को स्पष्ट करना ही कवि का मूल लक्ष्य रहा है, किन्तु उन्हें राम के अनुगत के रूप में उपस्थित करना भी वह नहीं भूले हैं। भ्रातृ-भक्ति और एकपत्नीव्रत आदि गुणों से युक्त दिखा कर उन्होंने लक्ष्मण के व्यक्तित्व को भी आदर्शमय रखा है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध आदर्श-सम्पन्न चरित्रों के अतिरिक्त गुप्त जी ने 'पंचवटी' में शूर्पणखा के चरित्र को भी व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उसके द्वारा उन्होंने नारी के विलासी रूप का पर्याप्त परिचय दिया है और दूसरी ओर राक्षस-जाति की मायावी प्रवृत्तियों पर भी प्रकरण के अनुकूल उपयुक्त प्रकाश डाला है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इन सभी चरित्रों की योजना करने में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में उन्होंने राम के भ्रातृ स्नेह और लक्ष्मण की कर्तव्य-भावना को एक साथ ही जो श्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्रदान की है उसमें उनके भाव-गाम्भीर्य और अभिव्यक्ति-कौशल को देखिए :—

'नहीं जानता मैं, सहने को
अब क्या है अवशेष रहा;
कोई कह न सकेगा, जितना
तुमने मेरे लिए सहा।"
"आर्य, तुम्हारे इस किंकर को
कठिन नहीं कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है
किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

—(छन्द-संख्या १२३

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति अनन्त काल से मानव को अपनी ओर आकृष्ट करती आई है और अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल व्यक्ति उसका अध्ययन करते रहे हैं। सौन्दर्य तत्वों की ओर सहज ही आकर्षण का अनुभव करने वाले कलाकारों को प्रकृति दर्शन में विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है और कवि भी इसके अपवाद नहीं होते। काव्य में प्रकृति चित्रण से उसमें एक विशेष मधुरता और स्वाभाविकता का समावेश हो जाता है। गुप्त जी ने इन सौन्दर्य-गुणों के समावेश के लिए 'पंचवटी' में वन के प्राकृतिक सौन्दर्य का सहज-स्वाभाविक चित्रण उपस्थित किया है।

'पचवटी' में प्रकृति के रात्रिकालीन और प्रातःकालीन छवि चित्रों को अंकित किया गया है। वस्तुतः इस कृति का कथानक भी रात्रि के प्रथम प्रहर से प्रारम्भ होकर अगले दिन मध्याह्न से पूर्व समाप्त हो जाता है और इस सम्पूर्ण अवधि में घटनाओं तथा पात्रों का प्रकृति से सहज सम्बन्ध स्थापित रहता है। इतने संक्षिप्त काल को लेकर लिखी गई यह हिन्दी की प्रथम खण्ड-काव्य-रचना है और हिन्दी के खण्ड-काव्यों में प्रकृति-चित्रण के अवसर भी इसी में सर्वाधिक परिमाण में वर्तमान रहे हैं। रात्रि के समय प्रकृति के मधुर वातावरण का अंकन करते समय गुप्त जी ने उसके प्रत्येक अङ्ग का सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रस्तुत कृति में वन के लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों, गोदावरी नदी, सूर्य और चन्द्रमा आदि विविध प्रकृति-तत्वों की शोभा का जितना सुन्दर वर्णन किया है उतना हिन्दी के किसी भी खण्ड-काव्य में उपलब्ध नहीं होता। कवि का लक्ष्य सर्वत्र यही रहा है कि वह पाठक को प्रकृति की स्वाभाविकता से अवगत करा कर नागरिक जीवन की कृत्रिमता से विरत करे और इसीलिये उन्होंने लक्ष्मण द्वारा प्रकृति के विषय में निम्नलिखित मन्तव्य उपस्थित कराया है —

मानो है यह भुवन भिन्न ही,
कृत्रिमता का काम नहीं।
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहीं विकृति का नाम नहीं ॥

—(छन्द-संख्या २५)

'पचवटी' में प्रकृति के आलम्बनात्मक, अलंकारिक, उपदेशात्मक और मानवीकरण विषयक विविध प्रकार के चित्र प्राप्त होते हैं। इनमें से इस कृति में आलम्बनात्मक प्रकृति-चित्रण को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और कवि ने प्रकृति के अनेक स्वच्छ चित्र अंकित किए हैं। इस प्रकार के चित्रों में कहीं-कहीं छायावाद की मानवीकरण की शैली का भी प्रयोग किया गया है। आगे हम इन दोनों ही प्रवृत्तियों से युक्त उनका एक उत्कृष्ट छन्द उद्धृत करते हैं :—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें,
खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है,
अवनि और अम्बर तल में ॥

पुलक प्रकट करती है धरती,
हरित तृणों की नोकों से ।
मानों भीम रहे हैं तरु भी,
मन्द पवन के झोंकों से ।।

—(छन्द-संख्या १)

भाषा

जिस प्रकार भाव-तत्वों में रस-तत्व का सर्वप्रमुख स्थान होता है उसी प्रकार कला-तत्वों में भाषा का शीर्ष स्थान रहता है। भाषा भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली प्रमुखतम माध्यम होती है। अतः भाषा-संस्कार के अभाव में स्वभावतः कृति के भाव-सौन्दर्य की सिद्धि में भी बाधा पहुँचती है। 'पंचवटी' की रचना खड़ी बोली में हुई है और कवि ने इसमें भाषा-परिष्कार पर सर्वत्र उचित ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने एक ओर तो भाषा की स्वाभाविकता का ध्यान रखते हुए संस्कृत के तत्सम शब्दों तथा उनके तद्भव रूपों का यथास्थान प्रयोग किया है और दूसरी ओर छायावाद-युग के भाषा-विषयक नवीन प्रयोगों को भी अपनी कृति में स्थान प्रदान किया है। कहीं-कहीं उन्होंने कुछ शब्दों की स्वयं भी रचना की है। उदाहरणार्थ 'कृपणता' के लिए 'कार्पण्य' शब्द का निम्नलिखित प्रयोग देखिए —

देने ही आई है तुमको
निज सर्वस्व बिना संकोच।
देने में *कार्पण्य* तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच ?

—(छन्द-संख्या ७१)

इसी प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल कहीं कहीं 'ड़' के स्थान पर 'र' वर्ण का प्रयोग किया है। यथा :—

एक एक कर गुन गुन कर के,
जुड़ आई भौंरों की *भीर* !

—(छन्द-संख्या ६८)

भाषा को सजीवता प्रदान करने के लिए उसे वाग्धाराओं तथा लोकोक्तियों से पुष्ट करना अत्यन्त आवश्यक होता है। द्विवेदी युग के कवियों ने अपने काव्य में इन दोनों का प्रचुर समावेश किया है और इस दृष्टि से उनमें कविवर

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का स्थान अग्रगण्य है। गुप्त जी ने भी 'पचवटी' में इस ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ 'छाती फूलना' नामक मुहावरे का निम्नलिखित प्रयोग देखिए :—

छाती फूल गई रमणी की।
क्या चन्दन है, कुंकुम क्या।

—(छन्द-संख्या ८६)

भाषा-सौष्ठव की योजना के लिए गुप्त जी ने 'पचवटी' में काव्य की तीनो शब्द-शक्तियों में से अभिधा एवम् व्यंजना का विशेष रूप से प्रयोग किया है। अभिधा शक्ति तो उनकी काव्य-रचनाओं मे सर्वत्र ही उपलब्ध होती है, किन्तु आलोच्य कृति में व्यंजना शक्ति का रमणीय समाहार भी देखा जा सकता है। इसी प्रकार गुण-प्रयोग की दृष्टि से भी इसमें माधुर्य, प्रसाद तथा ओज नामक तीनों प्रमुख गुणों की व्याप्ति हुई है, किन्तु इनमें से माधुर्य तथा प्रसाद नामक गुणों को ही इसमें मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि 'पचवटी' में भाषा-सौष्ठव का पूर्ण रूप उपलब्ध होता है।

शैली-प्रयोग

काव्य में शैली-प्रयोग मानव के अभिव्यक्ति-कौशल पर आधृत है अर्थात् जब कवि ससार में मानव वार्तालाप के विविध रूपों को देखता है तब उनकी प्रेषणीयता अर्थात् श्रोता के चित्त पर उनके प्रभाव को लक्षित करते हुये वह अपनी रचनाओं में भी उनका समावेश कर लेता है। गुप्त जी ने अपनी काव्य-वस्तु को जन-साधारण के लिए अधिकाधिक सहजबोध्य बनाने के लिए 'पचवटी' में सम्बोधन शैली, उद्‌बोधन शैली, प्रश्न शैली और नाटकीय शैली के प्रयोग द्वारा शैली-वैविध्य की योजना की है। आगे हम इन सबके स्वरूप और 'पचवटी में इनके समावेश की परिस्थितियों पर क्रमश: प्रकाश डालेंगे।

(१) सम्बोधन शैली :—

काव्य में सम्बोधन शैली की योजना से हमारा तात्पर्य विभिन्न पात्रों को पारस्परिक सम्बोधन का अवसर प्रदान करने से है। प्रबन्ध काव्य में इस शैली के प्रयोग के लिए पूर्ण अवसर विद्यमान रहते हैं। आलोच्य कृति में भी कवि ने राम, लक्ष्मण, सीता और शूर्पणखा को परस्पर एक-दूसरे को सम्बोधित करते हुए दिखाया है। इस शैली को प्रयुक्त करने में कवि-कौशल की परख करने के लिए विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए अवसर उपस्थित होने पर

पात्रों द्वारा विविध सम्बोधन-प्रणालियों का आश्रय लेने की सम्भावनाओं पर विचार करना चाहिए। 'पंचवटी' में कवि ने भावानुसार सम्बोधन की रीति को परिवर्तित करने का उचित ध्यान रखा है।

(२) उद्बोधन शैली :—

इस शैली के अन्तर्गत कोई पात्र किसी अन्य पात्र को सम्बोधित करने के उपरान्त उसे सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक आदि विविध विषयों में से किसी विशिष्ट विषय की ओर प्रवृत्त होने का उद्बोधन प्रदान करता है। इसमें भाव-विशदता, भाव गाम्भीर्य और प्रभाव-सृष्टि का अनिवार्य समावेश होना चाहिए। आलोच्य कृति में कवि ने एक ओर तो शूर्पणखा को क्रमश लक्ष्मण और राम के प्रेम-भाव को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करते हुए दिखाया है और दूसरी ओर लक्ष्मण तथा राम द्वारा शूर्पणखा को अनुचित प्रेम के मार्ग से विरत होने का उद्बोधन प्रदान कराया है।

(३) प्रश्न शैली :—

इस शैली के अन्तर्गत काव्य-पात्रों के पारस्परिक प्रश्नों का समावेश किया जाता है। इस विषय में यह आवश्यक है कि ये सभी प्रश्न प्रभावशाली और मार्मिक हों। आलोच्य कृति में कवि ने आदि से अन्त तक सभी पात्रों को परस्पर प्रश्न करते हुए दिखाया है। ये प्रश्न सर्वत्र कथानक को गति प्रदान करने वाले रहे हैं अर्थात् इनके उत्तरों में कथा-विकास में पूर्ण योग दिया है। कृति के 'पूर्वाभास' में भी कवि ने प्रश्न शैली की योजना की है।

(४) नाटकीय शैली :—

इस शैली के अनुसार काव्य में नाटकीय गति की योजना करते हुए सम्वाद-योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया जाता है। इससे काव्य में एक विशिष्ट गतिपूर्ण चाचल्य का समावेश हो जाता है जो पाठक को चमत्कृत करने में विशेष सहायक रहता है। 'पंचवटी' में इस शैली की विशेष व्याप्ति रही है और सम्वाद-सृष्टि द्वारा कवि ने इसे उपयुक्त विकास प्रदान किया है। आगे हम नाटकीय शैली का एक कल्पना-प्रेरित उत्कृष्ट छन्द उद्धृत करते हैं —

> इसी समय पौ फटी पूर्व में,
> पलटा प्रकृति पटी का रंग।
> किरण कण्टकों से श्यामाम्बर,
> फटा, दिवा के दमके अंग॥

कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ,
प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोल कर,
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!
—(छन्द-संख्या ६४)

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'पंचवटी' की शैली प्रवाहपूर्ण है और उसे विषय के अनुरूप परिवर्तित कर कवि ने प्रस्तुत काव्य में विशेष आकर्षण का संचार किया है।

अलंकार प्रयोग

काव्य में अलंकार प्रयोग से उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष में विशिष्ट सौन्दर्य का संचार हो जाता है। अतः काव्य-शास्त्रियों ने भाव-समृद्धि के लिए अर्थालंकारों और कला-समृद्धि के लिए शब्दालंकारों के प्रयोग का विधान किया है। 'पंचवटी' में कवि ने साम्यमूलक अर्थालंकारों के प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया है और इस दृष्टि से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दीपक आदि विविध अलंकारों की अनेक स्थलों पर सफल योजना की है। शब्दालंकारों की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास और यमक का अधिक प्रयोग किया है। उनकी अलंकार-योजना का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य में अलंकारों का समावेश स्वाभाविक रूप में हुआ है और उनके लिए कवि को किसी विशेष प्रयास का आश्रय नहीं लेना पड़ा है। आगे हम अपने कथन की पुष्टि के लिए उनके काव्य से रूपक और उत्प्रेक्षा नामक अलंकारों को क्रमशः उदाहृत करते हैं —

(१) रूपक अलंकार —

जितने कष्ट-कण्टकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला।
गौरव गन्ध उन्हें उतना ही,
अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला॥
—(छन्द संख्या २०)

(२) उत्प्रेक्षा अलंकार —

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरंद मधुरिमा
मानो छवि से छलक रही॥
—(छन्द संख्या ५०)

छन्द-योजना

खण्ड-काव्य में महाकाव्य की भाँति छन्द-वैविध्य की स्थिति नहीं होती। यही कारण है कि 'पचवटी' में कवि ने तीस मात्राओं वाले 'ताटक और 'लावनी' नामक मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अन्य किसी छन्द का प्रयोग नहीं किया है। इन दोनों ही छन्दों की योजना में कवि को यति, गति और तुक आदि का सम्यक् पालन करने की दृष्टि से पूर्ण सफलता की प्राप्ति हुई है। वस्तुतः प्रस्तुत कृति में छन्द-समावेश के प्रति वह पूर्णतः सजग रहे हैं और इस विषय में न तो हमें पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से ही कोई अनियमितता प्राप्त होती है और न ही छन्द-योजना के कारण उनके काव्य की भाव-गति में ही कोई बाधा आने पाई है।

'पचवटी' के विभिन्न सौन्दर्य-तत्वों का उपर्युक्त अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त को इसकी रचना में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने प्रस्तुत कृति के भाव-पक्ष और कला-पक्ष, दोनों की ही सफल सज्जा की है। वस्तुतः संक्षिप्त काव्य-रचना होने पर भी 'पचवटी' गुप्त जी के महाकाव्यों के समान ही प्रभाव-सृष्टि करती है। काव्य का मूल गुण उसकी व्यापक प्रेषणीयता में सन्निहित है और विस्तार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अत 'पचवटी' की संक्षिप्तता भी उसकी महत्ता में बाधक नहीं है और इसे हम उनकी अन्य काव्य-कृतियों के समान ही महत्वपूर्ण मानेंगे।

: १२ :

'कामायनी' का महाकाव्यत्व

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म काशी में सम्वत् १९४६ में हुआ था। उनके पिता बाबू देवीप्रसाद काशी के एक विख्यात व्यापारी थे। उनकी अकाल मृत्यु सम्वत् १९९४ में हुई साहित्य-रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही थी और उन्होंने भारतीय संस्कृति को व्यक्त करने के लिए अनेक कविताओं, नाटकों, उपन्यासों तथा निबंधों की रचना की। उनका 'कामायनी' नामक महाकाव्य हिंदी के लिए अत्यधिक गौरव की कृति है। 'प्रसाद' जी छायावाद के कवि थे। अतः प्रकृति उनके काव्य में मानो सस्वर हो उठी है। कल्पना और चिंतन से समन्वित हो कर उनके भाव और भी अधिक निखर उठे हैं। माधुर्य की दृष्टि से भी उनका काव्य अप्रतिम है। काव्य और गद्य, दोनों में ही उनकी भाषा शुद्ध, प्रांजल और प्रौढ़ रही है। शैली में प्रवाह और आकर्षण का विधान करने में उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। 'कामायनी' के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी की अन्य काव्य-रचनाओं में 'करुणालय', 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'झरना', 'आंसू' और 'लहर' विशेष महत्वपूर्ण हैं। नाटकों में उनके 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'राज्य श्री', 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' उल्लेखनीय हैं। उनके तीनों उपन्यास—'कंकाल' 'तितली' और 'इरावती', भी अत्यंत सुन्दर बन पड़े हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनकी 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक रचना भी अत्यंत प्रौढ़ विचारों को उपस्थित करती है। श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' की काव्य-रचनाओं में 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह कृति हिंदी के महाकाव्यों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें कवि ने मनु और श्रद्धा की प्रागैतिहासिक कथा का सुंदर काव्यमय वर्णन उपस्थित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इसमें भारतीय संस्कृति के तत्कालीन स्वरूप का चित्रण किया गया है। छायावाद युग की रचना होने के कारण इसमें आधुनिक काव्य-दृष्टि का भी सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इसके महाकाव्यत्व पर विचार करने के लिए हमें भारतीय और

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के तद्विषयक सिद्धातो का अध्ययन करना होगा। सस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के नियमो के आधार पर हम कामायनी को इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते है —

(१) महाकाव्य का प्रारम्भ —

महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि को ईश्वर के महत्व का प्रतिपादन करने के लिए मगलाचरण की रचना करनी चाहिए। इसी प्रकार काव्य की सामाजिक उपादेयता को लक्ष्य में रखकर उसके प्रारम्भ में खल निंदा और सज्जन स्तुति को स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से कामायनी का अध्ययन करने पर हम देखते है कि यद्यपि उसके प्रारम्भ में इन नियमो का निर्वाह नहीं किया गया है, तथापि समष्टि रूप में हमें उसमें ये सभी बातें उपलब्ध हो जाती हैं। उसके अतिम तीन सर्गो में प्राप्त होने वाला आध्यात्मिक विचार धारा का प्रतिपादन इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसी प्रकार आकुलि और किलात की हिंसात्मक प्रवृत्तियो की निंदा करते हुए कवि ने खल निंदा को स्थान प्रदान किया है तथा श्रद्धा के विविध गुणों की प्रशसा को सज्जन-स्तुति के अतगत रखा जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि 'कामायनी' का प्रारम्भ सस्कृत काव्य शास्त्र मे निर्दिष्ट नियमों के आधार पर नही किया गया है। तथापि यह कोई अधिक चिंतनीय विषय नही है, क्योंकि ये सभी नियम उसमें यत्र तत्र प्राप्त हो जाते हैं और कृति के प्रारम्भ में कवि ने किसी प्रकार की अस्वाभाविकता अनियमितता, अथवा कुरुचि को नहीं स्थान दिया है।

(२) सर्ग विभाजन —

कथानक के व्यवस्थित तथा उत्कृष्ट रूप विधान के लिए महाकाव्य में सर्ग क्रम की स्थिति अवश्य होनी चाहिए। सर्ग विभाजन की इस आवश्यकता का सस्कृत के सभी आचार्यों ने प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिएँ और इनमें से प्रत्येक सर्ग में कथा को विकसित करने की क्षमता होनी चाहिए। कामायनी में इस नियम का पालन करते हुए कवि ने उसके विभिन्न सर्गों में कथा का अत्यत सुदर रीति से विकास किया है

(३) कथा-योजना —

महाकाव्य में स्वाभाविकता के रक्षण के लिए ख्यात वृत्त की स्थिति होनी चाहिए। उसमें नायक के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए प्रासंगिक

कथाओं की भी सन्निविष्ट रहनी चाहिए। इन दोनों प्रकार की कथाओं से युक्त होने पर ही महाकाव्य में उचित आकर्षण का संचार हो पाता है। इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा की प्रसिद्ध आधिकारिक कथा के अतिरिक्त आकुलि और किलात से सम्बद्ध कथा तथा इड़ा और मानव की कथा का प्रासंगिक कथाओं के रूप में समावेश करते हुए इसी नियम की पूर्ति की है।

(४) महाकाव्य का नायक :—

किसी भी कथात्मक रचना में नायक का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है और कथा के विभिन्न सूत्र उसी के व्यक्तित्व में केन्द्रित रहते हैं। महाकाव्य में भी नायक के चरित्र की उत्कृष्टता के विषय में संस्कृत के आचार्यों ने अनेक निर्देश उपस्थित किए हैं। उनके अनुसार नायक देश-विशेष की संस्कृति का प्रतिनिधित्व उपस्थित करता है। अतः उसे सद्वंशजात होना चाहिए और उसके चरित्र में धीरोदात्त आदि गुणों की समष्टि होनी चाहिए। 'कामायनी' में इस तत्व की भी पूर्ण स्थिति रही है। उसके नायक मनु महर्षि हैं और उनके चरित्र में विविध अभिजात गुणों का उचित समावेश हुआ है।

(५) रस-प्रयोग :—

पाठक की चेतना को आकृष्ट करने और उसे स्निग्धता प्रदान करने के लिए काव्य में रस-प्रयोग की अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए महाकाव्य में शृंगार रस, वीर रस तथा शान्त रस में से किसी एक रस का मुख्य रस के रूप में समावेश होना चाहिए। महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट इन तीनों रसों की मुख्यता सहज-सिद्ध है। शृंगार रस में मानव-जीवन की अनुभूतियों को समाहित करने की सर्वाधिक क्षमता होती है, वीर रस का 'उत्साह' नामक स्थायी भाव पाठक की चेतना को विशिष्ट उन्नयन की ओर ले जाता है और शांत रस मानव को संघर्ष से पृथक कर शांति की ओर उन्मुख करता है। इनमें से किसी एक रस को प्रमुख रस के रूप में ग्रहण करने के उपरांत महाकाव्य में अन्य रसों को सहायक रसों के रूप में समाविष्ट किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से 'कामायनी' में शांत रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वत्सल आदि अन्य रसों का सहायक रसों के रूप में श्रेष्ठ प्रयोग किया गया है।

(६) छन्द-योजना :—

महाकाव्य के कथा-प्रवाह में रस-विधान के लिए साहित्याचार्यों ने उसके किसी भी सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान करते हुए प्रत्येक

सर्ग में छंद-परिवर्तन को आवश्यक माना है। सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छंद के प्रयोग से आने वाली एकरसता के निवारण के लिए उन्होंने प्रत्येक सर्ग के अंत में भी छंद-परिवर्तन का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से औत्सुक्य की सृष्टि करने के लिए उन्होंने सर्ग के अंतिम छंद में आगामी सर्ग की कथा की संकेतात्मक सूचना को भी अनिवार्य माना है। यद्यपि 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में इनमें से प्रत्येक सर्ग में भिन्न छंद-प्रयोग और सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छंद के प्रयोग के विषय में निर्धारित नियमों का निर्वाह नहीं किया है, तथापि सर्ग के अन्तिम छंद में आगामी सर्ग की कथा की सूचना प्रदान करने की प्रणाली को उन्होंने भी स्थान प्रदान किया है।

(७) प्रकृति-चित्रण :—

प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर मानव-चेतना प्रारम्भ से ही आकर्षण का अनुभव करती आई है। अतः काव्य में भी प्रकृति-चित्रण को पर्याप्त स्थान प्रदान किया जाता रहा है। इसी कारण महाकाव्य में भी प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्यमूलक उपादानों के व्यापक वर्णन का विधान किया गया है। 'कामायनी' में इस आवश्यकता की पूर्णतः पूर्ति की गई है और उसमें प्रकृति के सभी प्रकार के उत्कृष्ट चित्र उपलब्ध हो जाते हैं। उसके कथानक का विकास ही प्रकृति के अंचल में हुआ है। अतः उसमें प्रकृति-वर्णन के लिए प्रारम्भ से अन्त तक अनेक अवसर वर्तमान रहे हैं। कथा के अनुकूल उसमें प्राकृतिक पदार्थों का रूपकात्मक अभिव्यक्ति भी प्रदान की गई है।

(८) युगाभिव्यक्ति :—

साहित्याचार्यों ने महाकाव्य में युग-धर्म के निर्वाह को भी आवश्यक माना है। उनके अनुसार महाकाव्यकार को अपनी कृति में विभिन्न समकालीन सामाजिक समस्याओं का मनन, विवेचन और समाधान उपस्थित करना चाहिए। इस नियम के निर्वाह से पाठक को काव्य के अध्ययन में अधिक रुचि का अनुभव होता है, क्योंकि इसके कारण वह उसमें अपनी स्वयं की समस्याओं का चित्रण पाता है। 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने हिंसा के प्रश्न को लेकर इसी सामयिकता का निर्वाह किया है।

यद्यपि वर्तमान युग के हिन्दी-महाकाव्यों में, संस्कृत-महाकाव्य के लिए आवश्यक नियमों का भी पर्याप्त निर्वाह मिलता है, तथापि नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल भी उसके लक्षणों में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। आधुनिककालीन काव्य होने के कारण 'कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते समय हमें इन नवीन

मानदण्डों का अनिवार्य रूप से ध्यान रखना होगा। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार हम 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर इस प्रकार विचार कर सकते हैं :—

(१) भाव-पक्ष :—

महाकाव्य में कथावस्तु, पात्र तथा उद्देश्य की दृष्टि से महानता होनी चाहिए। उसमें शाश्वत तत्त्वों के अतिरिक्त युगीन समस्याओं के विवेचन तथा समाधान को भी उपस्थित किया जाना चाहिए। उसके कथानक में सत् और असत् में से किसी एक की अथवा दोनों की स्थापना की जा सकती है। उसका नायक समाज के किसी भी वर्ग से सम्बद्ध हो सकता है और सद्वंशी होना उसके लिए कोई अनिवार्य गुण नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार प्राचीन महाकाव्यों की भाँति केवल कथा-प्रधान न होकर वर्तमान महाकाव्य भाव-प्रधान और चरित्र-प्रधान भी हो सकता है। संक्षेप में महाकाव्य की रचना करते समय कवि को आधुनिक परिवर्तित दृष्टिकोण पर आधृत महाकाव्य के भाव-पक्ष को समृद्ध करने वाले उपर्युक्त गुणों के परिपालन की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

इस दृष्टि से 'कामायनी' का अध्ययन करने पर हम उसे एक श्रेष्ठ महाकाव्य कह सकते हैं। उसमें घटना, पात्र तथा तथा उद्देश्य, सभी का उच्च स्तर पर आयोजन किया गया है और भारतीय संस्कृति के एक विशिष्ट भाग को स्पष्ट करने के कारण उसमें इन तीनों को सफलतम अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। शाश्वत समस्याओं की भाँति ही उसमें समकालीन समस्याओं के मनन और समाधान की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इसी प्रकार उसमें असत् का निराकरण करते हुए अन्त में सत् की ओर प्रवृत्त करने वाली परिस्थितियों के महत्व का प्रतिष्ठान किया ग[illegible] है। कथा-प्रकार की दृष्टि से वह एक भाव-प्रधान कृति है।

(२) कला-पक्ष :—

महाकाव्य की नवीन व्याख्या के अनुसार उसमें संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कला-तत्वों के अतिरिक्त शैली की महानता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इस विषय में यदि कवि को विशेष दक्षता प्राप्त हो तो वह शैली-प्रधान महाकाव्य की रचना के लिए भी स्वतन्त्र है। इसी प्रकार अभिव्यक्ति को सशक्त रूप प्रदान करने के लिए गीत-प्रयोग भी आधुनिक महाकाव्य का एक श्रेष्ठ गुण हो गया है। इस दृष्टि से 'कामायनी' में शैली का श्रेष्ठ रीति से आयोजन किया गया है और उसमें गीतों के समावेश की ओर भी उचित ध्यान दिया गया है। इस विषय में उसका 'इडा' शीर्षक सर्ग विशेष रूप से पठनीय है।

यद्यपि उपर्युक्त अध्ययन से महाकाव्य के विषय में नवीन काव्य-दृष्टि का पर्याप्त बोध हो जाता है, तथापि आगे हम उसकी इन सभी भावात्मक तथा कलात्मक विशेषताओं पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे :—

(१) कथानक :—

कथानक का महत्व उसकी प्रभाव-सृष्टि-विषयक क्षमता तथा विस्तार में निहित रहता है। 'कामायनी' के कथानक का सम्बन्ध मानव-जाति के उद्भव और विकास से रहा है। अत. उसमें भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग की महानता का अत्यन्त आकर्षक चित्रण प्राप्त होता हैं। यद्यपि यह सत्य है कि 'प्रसाद' जी 'कामायनी' में इतिहास का उपयुक्त सयोजन करने में पूर्णत सफल नहीं हो पाये हैं, तथापि इस दोष के कारण 'कामायनी' के काव्यत्व में विशेष अन्तर नहीं आने पाया है। वस्तुतः प्रेषणीयता की दृष्टि से इस काव्य का कथानक आधुनिक युग की काव्य-कृतियों में सर्वोत्कृष्ट स्थान रखता है और पाठक को रस-ग्रहण कराने की क्षमता का परीक्षण करना ही आधुनिक आलोचना का मूल तत्व है।

(२) पात्र —

कथात्मक रचनाओं में पात्र-सृष्टि की सफलता का निर्णय करने के लिए साधारणत. पात्रों के व्यक्तित्व का अध्ययन अपेक्षित होता है और इस व्यक्तित्व का मानदण्ड निश्चित रूप से पात्रों का रचना-व्यापी प्रभाव होता है अर्थात् पात्रों के पारस्परिक व्यवहार और स्वत. एक-दूसरे के विषय में निर्धारित सम्मतियों के आधार पर भी उनके व्यक्तित्व की सफलता आधृत रहती हैं। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में प्रभावशाली और क्षमताशील चरित्रों की सृष्टि की है। उसमें प्राप्त होने वाला श्रद्धा का चरित्र स्पष्टत विशेष उज्ज्वल तथा अनुकरणीय रहा है और उसकी वर्तमान महाकाव्यों में प्राप्त होने वाले नारी-चरित्रों में से किसी से भी तुलना की जा सकती हैं।

(३) शैली :—

भाव-प्रतिपादन की विशेष रीति को 'शैली' के नाम से अभिहित किया जाता है और भाव-योजना की भाँति काव्य में शैली के विविधतापूर्ण सयोजन का भी पर्याप्त महत्व होता है। वस्तुत महाकाव्य का अध्ययन करने पर पाठक का प्रथम सम्पर्क उसकी भाषा और शैली से ही स्थापित होता है। यही कारण है कि नवीन काव्य-दृष्टि के अन्तर्गत शैली-योजना की ओर विशेष ध्यान दिया

जाने लगा है। इस दृष्टि से 'कामायनी' की शैली सर्वथा मौलिक रही है और यह अध्येता के चित्त का तुरन्त स्पर्श करती है।

(४) उद्देश्य —

किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर उपस्थित की गई काव्य-रचना का महत्व चिरस्थायी होता है। अतः महाकाव्य का प्रणयन करते समय कवि को अपने समक्ष कोई महान् उद्देश्य रखना चाहिए। 'कामायनी' का उद्देश्य मानव-मन में सचरित होने वाली परस्पर विरोधी वृत्तियों में सामजस्य की स्थापना करना रहा है। यह उद्देश्य मानव को सघर्षशील विश्व की भौतिक समस्याओं से विरत कर शान्ति की ओर ले जाने वाला है। अत इसमें महानता के गुण की निश्चित स्थिति रही है।

(५) शाश्वत समस्याओं का प्रतिपादन —

आलोच्य कृति में कवि ने शाश्वत मानवीय समस्याओं के प्रतिपादन की ओर उचित ध्यान दिया है और आवश्यकता के अनुसार उनके यथास्थान समाधान भी उपस्थित किये हैं। इस प्रकार की समस्याओं में मानव द्वारा हृदय की ओर से विमुख होकर बुद्धि की ओर अग्रसर होने और पुरुष द्वारा नारी पर अनुचित अधिकार प्राप्त करने की इच्छा रखने की समस्याएँ मुख्य रही हैं। 'प्रसाद' जी ने इन समस्याओं का निराकरण करने के लिए समरसता के सार्वनिक प्रसार को अनिवार्य माना है। वस्तुत इस कृति का मूल लक्ष्य समाज में सामरस्य सिद्धान्त का प्रचार करना ही रहा है।

(६) गीत प्रयोग —

यद्यपि प्राचीन महाकाव्य-विषयक लक्षणों में गीत-प्रयोग का महाकाव्य के लिए निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वहाँ उसे इस प्रकार की काव्य-कृति के एक अगभूत तत्व के रूप मे स्वीकृति प्रदान नहीं की गई है। नवीन परिवर्तित दृष्टिकोण के अनुसार महाकाव्य मे गीत-प्रयोग को उसके एक विशिष्ट गुण के रूप में ग्रहण किया जाने लगा है। शैली के आकर्षण को सुरक्षित रखते हुए उसे प्रवर्द्धित करने के लिए 'कामायनी' में गीतों को पर्याप्त स्थान प्रदान किया गया है। इस दृष्टि से उसका 'इडा' नामक सर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सर्ग में समाविष्ट विभिन्न गीतों में सक्षिप्तता प्रवाह, आकर्षण, रागात्मकता तथा मधुर पदावली का प्रयोग आदि गीति-काव्य के सभी गुण उपलब्ध हो जाते हैं।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर विचार करने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि इस विषय में प्राप्त होने वाले पाश्चात्य मत के आधार पर भी उसका परीक्षण कर लिया जाए। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में महाकाव्य को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जाता है —

(अ) सकलनात्मक महाकाव्य (Epic of Growth)

(ब) कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art).

इन दोनो में से सकलनात्मक महाकाव्य में कथा विकास की सहजता और शैली की सुबोधता की ओर ध्यान दिया जाता है तथा कलात्मक महाकाव्य में अभिव्यजना की विभिन्न प्रणालियों का आधार ग्रहण करते हुए रचना-सौन्दर्य को विकसित करने का उद्योग किया जाता है। इस दृष्टि से 'कामायनी' का अध्ययन करने पर हम उसे 'कलात्मक महाकाव्य' की सज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

विश्लेषण

आधुनिक युग में साहित्य-रचना करते समय साहित्यकार मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करने की ओर पर्याप्त ध्यान देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उसमें रस की उचित अभिव्यक्ति का होना नितान्त आवश्यक है, क्योकि वही पाठक के मन पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाला तत्व है। इस दिशा में 'कामायनी' एक सर्वथा सफल रचना रही है और उसमें विभिन्न रसो का यथास्थान उचित समावेश किया गया है।

कामायनी में अमूर्त घटनाओ की स्थिति होने के कारण बाह्य जीवन की स्थूल अभिव्यक्ति को अपेक्षाकृत अल्प स्थान प्राप्त हुआ है। मानव की सामान्य जीवन धारा से इस प्रकार पृथक् होने के कारण उसके महाकाव्यत्व में कुछ व्यवधान उपस्थित हो सकता था, किन्तु 'प्रसाद' जी ने इस विषय में विशेष कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने 'कामायनी' की विविध घटनाओ का सयोजन करते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि वे अपने सूक्ष्म रूपक-प्ररित अर्थ की सिद्धि करते हुए भी अपने स्थूल अर्थ का स्पष्ट निर्वाह करती रहें और कथा के विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पाए। अत कथा-योजना में यत्र-तत्र अनावश्यक विस्तार की स्थिति होने पर भी 'कामायनी' का महाकाव्यत्व अक्षुण्ण है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'कामायनी' में संस्कृत-काव्य-शास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के सभी लक्षण किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। महाकाव्य-विषयक वर्तमान सिद्धान्त-विकास की दृष्टि से विवेचन करने पर भी हम उसे एक सफल कृति कह सकते हैं। यद्यपि 'कामायनी' में छन्द-विधान और सर्ग-संख्या-नियमन के विषय में प्राचीन सिद्धान्तों का परिपालन नहीं किया गया है, किन्तु इस स्थान पर यह स्मरणीय है कि इन दोनों नियमों को महाकाव्य के बाह्य लक्षण ही कहा जा सकता है। वस्तुतः महाकाव्य की आत्मा मानव-जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है और इस दृष्टि से "कामायनी' निश्चय ही एक सफल रचना प्रमाणित होती है। इस कृति में जीवन को उसके प्रचलित अर्थों से भिन्न रूप में ग्रहण करते हुए भारतीय परम्परा पर आधृत रखा गया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की पूर्णता स्थूल भौतिकता में न हो कर उसकी आध्यात्मिक विचार-धारा में होती है। 'कामायनी' में कवि ने इसी भावना को ग्रहण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है। अतः यह स्पष्ट है कि महाकाव्य के अधुनातन लक्षणों के आधार पर विवेचन करने पर हम 'कामायनी' को एक सफल महाकाव्य कह सकते हैं।

कतिपय आलोचक 'कामायनी' को महाकाव्य न मान कर एक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में उनके द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो आपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं :—

(१) यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में प्रतिपादित किए गए महाकाव्य के अधिकांश लक्षण 'कामायनी' में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु कहीं-कहीं उनका व्यतिक्रम भी देखने में आता है। अतः 'कामायनी' को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।

(२) घटना-प्रवाह की दृष्टि से 'कामायनी' एक दोषपूर्ण काव्य है और उसमें विविध घटनाओं का क्रमवत् संयोजन उपलब्ध नहीं होता। महाकाव्य में इस प्रकार की स्थिति नहीं होनी चाहिए।

इन दोनों आपत्तियों को स्वीकार करते हुए हम इस विषय में यही कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्य के अधिकांश लक्षणों से युक्त होने पर भी यदि 'कामायनी' में कारणवश उसके कतिपय लक्षणों का अभाव हो गया है तो केवल उन्हीं के आधार पर उसे महाकाव्य न मानना सर्वथा अनुचित है। 'कामायनी' में इन कतिपय लक्षणों का परिपालन न होने का कारण यह है कि वर्तमान युग में भाव और शैली, दोनों ही की दृष्टि से काव्य-रचना की प्रणाली में कुछ अन्तर आ गया है और यह निश्चित है कि इस प्रकार का परिवर्तन

काव्य-विकास के लिए सदैव शोभनीय और अपेक्षित होता है। अतः इस परिवर्तन से प्रेरित होने के कारण ही 'कामायनी' के महाकाव्य के विषय में शंका प्रकट करना उचित नहीं है।

'कामायनी' के कथा-विकास में असम्बद्धता प्रतीत होने का प्रमुख कारण यह है कि वह एक रूपक-काव्य है और इसके फलस्वरूप उसमें एक ओर तो मनस्तत्व का आधार ग्रहण किया गया है और दूसरी ओर उसमें जटिल दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति की गई है। इन दोनों अतिरिक्त विशेषताओं के कारण कथानक की सहजता को आघात पहुँचना सर्वथा स्वाभाविक है, तथापि 'प्रसाद' जी ने इस विषय में यथासम्भव सतर्क रहने का प्रयास किया है। यद्यपि यह सत्य है कि आलोच्य कृति के 'लज्जा' शीर्षक सर्ग का महाकाव्य के कथानक की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है और इसी प्रकार उसकी कथा के कुछ अन्य स्थलों की भी अनावश्यक योजना की गई है, तथापि प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से इस काव्य के कथानक का मूल्य अपने आप में अप्रतिम है और महाकाव्य के अनुकूल कथानक के अन्य गुण उसमें सहज रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि 'कामायनी' आधुनिक काल की एक श्रेष्ठ महाकाव्य-रचना है।

: १३ :

'निराला' जी के काव्य का कला-सौष्ठव

श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म सम्वत् १९५३ में बंगाल प्रदेश के मेदिनीपुर नामक स्थान में हुआ था। बंग-संस्कृति में पोषित होने के कारण उनकी कविता पर स्वभावतः ही उसका व्यापक प्रभाव है। छायावादी मुक्तक काव्य के प्रमुख स्रष्टा होने के साथ-साथ वह काव्य के अन्तस् में वेदान्त-दर्शन के मुख्य व्याख्याकार भी हैं। 'परिमल', 'अनामिका', और 'तुलसीदास' जैसे काव्य ग्रंथों के साथ-साथ उन्होंने 'निरुपमा', 'अलका' और 'चोटी की पकड़' जैसे उपन्यासों का भी सृजन किया है। 'गीतिका' की रचना द्वारा उन्होंने हिन्दी-काव्य को गीति-तत्व से युक्त एक सुन्दर ग्रंथ प्रदान किया है।

'निराला' जी ने अपनी कविताओं में प्रगतिवाद को ग्रहण करते हुए संघर्षमय जीवन की विविध परिस्थितियों का सुन्दर अंकन किया है। उनकी *'कुकुरमुत्ता' तथा 'नये पत्ते' आदि रचनायें हमारे कथन की उत्कृष्ट प्रतीक* हैं। सूक्ष्म अन्तर्दर्शन की भावना से समन्वित होने के कारण उनकी रचनाओं में गाम्भीर्य के साथ-साथ वेदना का भी उन्मुक्त समावेश हुआ है। हिंदी के क्षेत्र में वह एक क्रांतिकारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। अपनी प्रतिभा के आधार पर उन्होंने भावना और अभिव्यञ्जना की प्रणालियों में जिन महत् परिवर्तनों का विधान किया है, वे निश्चय ही प्रशंसनीय हैं।

'निराला' जी के काव्य में कल्पना के तत्व का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। कल्पना की रमणीय पृष्ठभूमि में भावनाओं का संयोजन करते समय वह पूर्णतः आत्म विभोर हो उठे हैं। वस्तुतः नैसर्गिक अभिव्यक्ति उनके काव्य की एक स्वीकृत धारा बन चुकी है। इस सम्बन्ध में हम 'गीतिका' से उनकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं —

वह आता र, परिमल मन,
नूतनतर कर भर जीवन।
× × ×

कर लिए बन्द तूने अपार
उर के सौरभ के शरण-द्वार,
है तभी मरण रे, अन्धकार
घेरता तुझे आ क्षण-क्षण ।

'कला' से हमारा तात्पर्य सौन्दर्य-वृद्धि में सहायता देने वाली उस शक्ति से है जो विभिन्न उपकरणों द्वारा काव्य अथवा अन्य लिखित कलाओं को सौन्दर्य-सजगता प्रदान करती है। काव्य-कला के अन्तर्गत भाषा, शैली, छन्द तथा अलंकार नामक उपकरणों का समावेश किया जाता है। 'निराला' जी के काव्य में कला-विषयक अनेक नवीन प्रयोग प्राप्त होते हैं। उन्होंने शैली और छन्द-रचना के क्षेत्र में अपनी मौलिक प्रवृत्तियों की पर्याप्त सूचना दी है। पन्त जी, 'प्रसाद' जी और महादेवी जी की भांति खड़ी बोली को कलात्मक प्रगति प्रदान करने में उन्होंने भी पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है और प्रचलित कला-परम्पराओं से भिन्न अनेक नए मोड़ लाने के प्रयत्न किए हैं। आगे हम उनके काव्य के कला-वैभव पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे :—

भाषा

'निराला' जी ने अपने काव्य की रचना खड़ी बोली में की है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से उनकी 'परिमल', 'तुलसीदास', 'नए पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' नामक रचनाएँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं। 'परिमल' और 'तुलसीदास' में उन्होंने संस्कृत-शब्दावली का व्यापक प्रयोग किया है और कहीं-कहीं 'लक्ष-वक्षस्थलार्गलित' जैसे दीर्घ-सन्धि-विधान के सूचक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इन कृतियों में उनकी दृष्टि प्रायः शब्द-संहिति की ओर अधिक रही है। 'नए पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' में उन्होंने इस दृष्टिकोण को त्याग कर प्रगतिवादी काव्य-धारा के अनुकूल हिन्दुस्तानी के प्रचलित स्वरूप के अनुकूल काव्य-रचना की है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'निराला' जी की भाषा एक ओर तो अपने पूर्ण साहित्यिक रूप में प्रकट हुई है और दूसरी ओर उन्होंने भाषा के जन-प्रचलित रूप को भी ग्रहण किया है। अपनी भाषा को साहित्यिक छटा प्रदान करते समय उन्होंने या तो उसे समासमयी रखा है अथवा उसे सहज-बोध्य अलंकृत भाषा का स्वरूप प्रदान किया है। 'गीतिका' में उन्होंने गेयत्व की योजना के लिए कोमल-कान्त पदावली का भी प्रचुर प्रयोग किया है। इस

दृष्टि से भाषा-परिचय के लिए उनका निम्नलिखित गीत देखिये —

मेरे प्राणो में आओ !
शत शत भावनाओ के
उर के तार सजा जाओ।
गाने दो प्रिय मुझे भूलकर
अपनापन अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती जल नित बरसाओ।

छायावादी कवि होने के कारण 'निराला' जी ने अपने काव्य में प्रतीकात्मक और लाक्षणिक शब्दो का भी व्यापक प्रयोग किया है। इसी प्रकार अपनी रहस्यवादी कविताओ में उन्होने 'सहस्रार' जैसे विशेष पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार किया है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य में पर्याप्त वैविध्य मिलता है। 'बादल राग' शीर्षक कविता में उन्होने अनुरणनमूलक शब्दो का प्रयोग किया है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के अतिरिक्त उन्होने 'मरजाद' और 'सीस' आदि तद्भव शब्दो का भी प्रचुर प्रयोग किया है। इसी प्रकार उन्होने 'सरताज', 'शराबोर', हरगिज', 'दगाबाज', 'शिकार', शानदार', 'बरबाद' और 'दिल' आदि अरबी फारसी के शब्दो का भी पर्याप्त व्यवहार किया है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य में सर्वाधिक चिन्तनीय बात यह है कि उन्होने कुछ शब्दो का अप्रचलित अर्थों में प्रयोग किया है और कही-कही शब्दो के इच्छानुसार अर्थ कल्पित कर लिए हैं।

'निराला' जी ने अपनी भाषा में सजीवता का सचार करने के लिए मुहावरो तथा लोकोक्तियो का प्रचुर प्रयोग किया है। उनकी भाषा में व्यजनो के प्रयोग को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। अत वह प्राय ओजगुणमयी रही है। अपनी गेय कविताओ में उन्होने माधुर्य गुण का भी सुन्दर प्रयोग किया है। शब्द शक्तियों की दृष्टि से उन्होने अभिधा, लक्षणा और व्यजना नामक तीनो ही शक्तियो का व्यवहार किया है।

शैली

शैली प्रयोग की दृष्टि से 'निराला' जी की कविताओ में निम्नलिखित शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं —

(i) प्रगीत शैली :—

'निराला' जी ने अपने व्यापक संगीत-ज्ञान के आधार पर अपने काव्य में प्रगीत शैली का सुन्दर समावेश किया है। अपनी 'गीतिका' शीर्षक काव्य रचना के विभिन्न गीतों में उन्होंने इस शैली का नितान्त उत्कृष्ट प्रयोग किया है। उन्होंने अपने प्रगीत काव्य में लय तत्व के उपयुक्त आयोजन पर सबसे अधिक ध्यान दिया है। अनुभूति, भावना और आत्माभिव्यंजना से युक्त होने के कारण उनके गीत अत्यन्त रम्य और कलात्मक बन पड़े हैं।

(ii) समास शैली :—

'निराला' जी ने अपने काव्य में शब्द संहिति की प्रवृत्ति का भी अत्यधिक परिचय दिया है। उनके काव्य में क्लिष्टत्व का समावेश इसी शब्द संहिति के कारण हुआ है। इस शैली का प्रयोग उन्होंने अधिकतर अपनी कविताओं की कुछ पंक्तियों में किया है और सम्पूर्ण कविता में इस शैली का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। तथापि भाषा की सहजता का निवारण करने के कारण इस शैली में लिखे गए काव्य का अधिक महत्व नहीं है। 'बादल-राग' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्ति इसी प्रकार की है।—

दत-सहस्त्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि-संस्तुत नयन-मनोरंजन ।

(iii) वर्णनात्मक शैली :—

इस शैली में प्रणीत काव्य के अन्तर्गत 'निराला' जी की कथात्मक कविताओं का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि इन कविताओं में भावा-त्मकता की भी स्थिति रही है, तथापि कथा-वर्णन के आग्रह के कारण इन्हें वर्णनात्मक ही कहा जाएगा। 'महाराज शिवाजी का पत्र' और 'भिक्षुक' शीर्षक कविताओं में उन्होंने इसी प्रवृत्ति का सुन्दर परिचय दिया है।

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त 'निराला' जी के काव्य में छायावाद की विभिन्न शैलीगत विशेषताओं का भी सुन्दर समावेश हुआ है और उन्होंने लाक्षणिकता तथा मानवीकरण की प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रयोग किया है। सम्वाद-शैली, उद्बोधन शैली और प्रश्न शैली आदि शैली के अन्य सूक्ष्म भेदों के अन्तर्गत भी उन्होंने अपने काव्य में उत्कृष्ट सलापों, सामाजिक और आध्यात्मिक उद्बोधनों तथा सजीव प्रश्नों व उनके उत्तरों का प्रशसनीय समावेश किया है। 'यमुना के प्रति' और 'तरंगों के प्रति' आदि कविताओं में उन्होंने सम्बोधन शैली का भी अत्यन्त मौलिक प्रयोग किया है। मुक्त छन्दमयी काव्य-रचना और 'पंचवटी प्रसंग' के समान काव्य-रूपक रचना भी उनकी शैलीगत विशेषताएँ

है। इसी प्रकार चित्रात्मक कथन भी उनकी शैली की एक महान् विशेषता है। यथा :—

> वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
> वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
> वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
> वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
> दलित भारत की विधवा है।

अलंकार-प्रयोग

'निराला' जी के काव्य में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों, दोनों का ही व्यापक प्रयोग हुआ है। शब्द-सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक अलंकारों की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास, यमक और श्लेष का व्यापक प्रयोग किया है। इसी प्रकार अर्थ को शोभा प्रदान करने वाले अलंकारों में से उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति आदि साम्यमूलक अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। इन अर्थालंकारों में कल्पना का सहज वैभव निरन्तर वर्तमान रहा है। उपमा अलंकार की योजना में वह सर्वाधिक प्रवृत्त रहे हैं और इस दृष्टि से परम्परागत उपमानों के साथ-साथ उन्होंने अनेक नवीन उपमानों की भी खोज की है। उदाहरणार्थ उनकी 'प्रार्थना' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

(i) जीवन प्रात-समीरण-सा लघु
(ii) अचल-सा न करो चंचल

छन्द-योजना

'निराला' जी ने अपने काव्य में मुख्य रूप से मुक्त छन्द का समावेश किया है, तथापि कुछ मात्रिक छन्द भी उनके काव्य में अपनी पूर्ण गरिमा के साथ वर्तमान हैं। छन्द-योजना के अन्य अङ्गों की दृष्टि से उन्होंने तुकान्त और अतुकान्त, दोनों प्रकार की कविताएँ प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार कहीं कहीं उन्होंने आन्तरिक तुक-साम्य की प्रवृत्ति का भी सुन्दर परिचय दिया है और इस तुक-साम्य को सम्पूर्ण छन्द में ही निर्वाहित करने का प्रयास किया है। मुक्त छन्द के प्रयोग के विषय में वह विशेष सचेत रहे हैं। इस दृष्टि से उनका निम्नलिखित वक्तव्य द्रष्टव्य है :—

"मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"

'निराला' जी के मुक्त छन्दो में प्रवाह की तन्मयता निरन्तर वर्तमान रही है। इन छन्दो में लय के पुष्ट आयोजन के कारण कलात्मक गीतिमयता का सफल समावेश हुआ है। मुक्त-छन्दों के क्षेत्र में उन्होने अनेक नवीन प्रयोग किए हैं और अपने अनेक मुक्त छन्दो को कवित्त छन्द की आधार-भूमि पर भी उपस्थित किया है। मुक्त-छन्द प्रयोग के क्षेत्र में वह हिन्दी के अग्रगण्य कवि हैं और इस दिशा में अनेक अन्य कवियो न भी उनका अनुकरण किया है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित प्रवाहमय मुक्त छन्द देखिए :—

जड़े नयनो में स्वप्न
लाल बहुरंगी पक्ष विहग-से,
सो गया मुरा - स्वर
प्रिया के मौन अधरो में
क्षुब्ध एक कम्पन-सा निद्रित
सरोवर में।

'निराला' जी के काव्य के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होने अपने काव्य में विभिन्न कला-विशेषताओं का अत्यन्त सफल तथा सजग समावेश किया है। यद्यपि खड़ी बोली को परिष्कार प्रदान करने वाले कवियो में उनका स्थान पन्त, महादेवी और 'प्रसाद' के पश्चात् आता है, तथापि शैली योजना और अलकार-प्रयोग के क्षेत्र में वह किसी से पीछे नही है। मुक्त छन्द के व्यवहार-क्षेत्र में तो वह अग्रगण्य हैं ही, काव्य में ओज गुण का समावेश भी उन्होने वतमान युग के कवियो में सर्वाधिक किया है।

: १४ :

पन्त जी के काव्य-रूपक

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म अलमोडा के कौसानी नामक स्थान में सम्वत् १९५७ में हुआ था। वह छात्रावस्था में ही काव्य-रचना करने लगे थे और तब से लेकर अब तक उन्होंने अपनी काव्य धारा को अनेक नवीन दिशाएँ प्रदान की हैं। भावनाओं को और भी अधिक समृद्ध बनाने के लिए उन्होंने समय-समय पर अनेक पौर्वात्य तथा पाश्चात्य ग्रन्थों का अनुशीलन किया है। भारतीय दर्शन से उनका अत्यन्त निकट का परिचय है और उससे उन्होंने अपनी कविताओं में अधिकाधिक गम्भीरता तथा प्रौढ़ता का सचार किया है।

पन्त जी की रचनाओं में 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुञ्जन', 'युग-वाणी', 'युगान्त', 'ग्राम्या', 'उत्तरा', 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'शिल्पी' और 'रजत-शिखर' मुख्य हैं। उनकी कविताओं की मुख्य विशेषता उनमें निहित प्रकृति प्रेम की भावना है। प्राकृतिक छवि का जितना स्वच्छ अकन उन्होंने किया है, उतना सम्भवतः हिन्दी के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। वह छायावाद के कवियों में अपने प्रकृति-वर्णन के कारण ही अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। उनकी भाषा का माधुर्य और भावों का कल्पनामय चित्रण भी इसमें अतिशय सहायक रहा है। उन्होंने कुछ समय तक प्रगतिवादी कविताओं की भी रचना की थी, परन्तु वर्तमान समय में वह इनसे विरत होकर अध्यात्म भाव की ओर उन्मुख हो गये हैं। शब्द और लय का उत्कृष्ट समन्वय उनकी कविता की एक मुख्य प्रवृत्ति है। वैसे हिन्दी-काव्य को सुकुमार भावनाएँ प्रदान करने के कारण वह सर्वविख्यात हैं।

पन्त जी के काव्य विकास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविताओं में सत्य, शिव और सुन्दर, तीनों की उचित व्याप्ति हुई है। वस्तुत काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर के समावेश का प्रश्न अनादि काल स

ही मानव-चेतना को आकृष्ट करता रहा है। प्राचीन समय में सत्य को शाश्वत ज्ञान का प्रतीक माना जाता था अर्थात् वाह्य रूप में यत्किंचित् परिवर्तित होने पर भी जिस तत्व में मूलतः एक ही अन्तर्धारा का प्रवाह वर्तमान रहता है, उसे 'सत्य' की संज्ञा प्रदान की जाती थी। 'शिव' शब्द 'कल्याण' का वाची था और उसमें मानव के आत्मिक कल्याण अथवा आध्यात्मिक विकास की स्थिति रहती थी। इसी प्रकार 'सुन्दर' से भारतीय मनीषियों का तात्पर्य उन तत्वों से था जो मानव-प्रवृत्ति को सयमित रखने मे सहायक हो और अपने मनोरम तथा महनीय रूप द्वारा मानव-आत्मा का परिष्कार करने में सक्षम हो। पन्त जी के काव्य में सौन्दर्य चित्रण को सर्वाधिक स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्राकृतिक, मानवीय और आध्यात्मिक क्षेत्रों में सौन्दर्य को मानव-आत्मा को सात्विकता, जागरूकता और परिष्कार प्रदान करने वाला माना है। उनके मानववादी और अध्यात्मपरक काव्य में सत्य और शिव के समावेश के लिए भी पर्याप्त स्थान विद्यमान रहा है। इन तत्वों को नैतिकता-समन्वित मानववादी काव्य में सर्वाधिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि के फलस्वरूप वर्तमान युग में सत्य, शिव और सुन्दर के परम्परागत अर्थों में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। जनवादी विचार-धारा के फलस्वरूप अब 'सत्य' को भौतिक यथार्थ का प्रतीक माना जाता है, 'शिव' को भौतिक दृष्टि से समाज-विकास का प्रवर्तन करने वाला प्रेरक तत्व कहा जाता है और 'सुन्दर' को नैसर्गिक प्रवृत्तियों के प्रतिपादक तत्व के रूप में उपस्थित किया जाता है। पन्त जी ने इस नवीन दृष्टिकोण के अनुरूप अपने प्रगतिवादी काव्य में जन हित पर बल देते हुए भौतिक यथार्थ, समाजगत भौतिक विकास और प्रकृत तत्वों की प्रतिपत्ति का समर्थन किया है। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में हमें सत्य, शिव और सुन्दर के इन परिवर्तित रूपों का पर्याप्त विकास प्राप्त होता है। उन्होंने प्रगतिवाद को सत्य का पोषक माना है, गान्धी-वाद में सत्य और शिव की व्याप्ति मानी है और अरविन्द-दर्शन में इन तीनों के समन्वित रूप को उपस्थित किया है। उनके काव्य-रूपकों के मूल तत्वों को हृदयगम करने के लिए इस पृष्ठभूमि से अवगत रहना अत्यन्त आवश्यक है।

काव्य-रूपक

काव्य-रूपक से हमारा तात्पर्य नाट्य-रचना की उस प्रणाली से है, जिसमें गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रमुख स्थान रहता है और गद्य का गौण रूप में सग्रहण होता है। इस प्रकार के काव्य-रूपकों की रचना हिंदी के लिए सर्वथा नवीन

वस्तु है और पंत जी इसके अग्रगण्य कलाकार हैं। साहित्य की इस विधा के सृजन की ओर उनकी प्रारम्भ से ही विशेष अभिरुचि रही है और इसके उपयुक्त विकास में वह समय-समय पर क्रमिक योग-दान देते रहे हैं। उनसे इतर अन्य काव्यरूपककारों में श्रीयुत उदयशंकर भट्ट, गिरिजाकुमार माथुर तथा आरसी प्रसाद सिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब से पर्याप्त समय पूर्व श्रीयुत हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया था, किंतु क्रमिक प्रगति के अभाव में वह इस श्रेणी के कलाकारों में नैरन्तर्य-युक्त स्थान न बना सके।

पंत जी के काव्य-रूपक स्वभावत सौन्दर्य चेतना की ओर विशेष रूप से उन्मुख हैं। सौंदर्य को उन्होंने प्राकृतिक और मानवीय, दोनों रूपों में ग्रहण किया है और दोनों ही अवस्थाओं में बाह्य स्थिति की अपेक्षा अन्त. सौंदर्य को मूल श्रेय प्रदान किया है। प्रकृति और मानव के स्थूल सौंदर्य ने भी उन्हें आकर्षित अवश्य किया है, किंतु वर्ण्य के रूप में उन्हें इनकी सूक्ष्म चेतना ही ग्राह्य रही है। इस दृष्टि से उन्होंने इन दोनों के मध्य स्वाभाविक सामंजस्य-सम्बंध की स्थापना की है और स्वतंत्र रीति से भी दोनों का आख्यान किया है। प्रकृति के प्रति प्रारम्भ से ही अधिक अनुरक्त होने के कारण उन्होंने अपने काव्य-रूपकों में भी उसे प्रमुख स्थान प्रदान किया है और मानवीय व्यक्तित्व के मूल गुणों का उसके स्वरूप में अन्वेषण करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस प्रकार उनकी प्रकृति केवल अपने स्वरूप की व्याख्याता ही नहीं रही है, अपितु उसने मानवीय सौंदर्य का भी अत्यंत यथार्थ और श्रेष्ठ विश्लेषण उपस्थित किया है।

सौंदर्य-चेतना के अनन्तर पंत जी ने अपनी सुकुमार प्रवृत्ति के अनुकूल ही कवि और काव्य-भावना के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित किया है। कलाकार के जीवन की यथार्थवादी व्याख्या उपस्थित करना उन्हें सदैव प्रिय रहा है और उनके काव्य-रूपकों में भी 'शिल्पी' उनकी इसी रुचि की ओर संकेत करता है। इस कृति में उन्होंने सौंदर्य के निर्माता कलाकार के अन्तस् में उद्भूत और विकसित संघर्ष का अत्यंत भावपूर्ण कथन किया है। युग की बदली हुई परिस्थितियों के कारण यह संघर्ष और भी तीव्र हो उठा है और वर्तमान भौतिकवादी जगत् में उचित मार्ग की खोज कलाकार के लिये और भी कठिन हो गई है। निरंतर प्रयास करने पर भी आज का कवि अथवा कलाकार अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पाता। इसका मूल कारण यही है कि उसका बौद्धिक धरातल इतर व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है और स्थूल व्यावहारिक क्रियाएँ

उसके मनस् लोक को सहज ही परितृप्ति प्रदान करने में असमर्थ रहती हैं। इस प्रकार वह अपनी समस्या में स्वयं ही उलझा रहता है और उसकी बौद्धिक प्रगति किसी दिन उसे स्वयं ही आनन्द का मूल रहस्य प्रदान कर जाती है।

सौंदर्य चेतना और कलाकार के संघर्ष की भाँति ही पंत जी ने मानव-जीवन की स्वर्णिम परिणति को विशेष महत्व प्रदान किया है। विज्ञान-पीड़ित मानवी सृष्टि को शांति की खोज में प्राचीन संस्कृति की ओर उन्मुख देखना ही उन्हें विशेष इष्ट रहा है और इस प्रकार के काव्य-रूपकों में उन्होंने मानव को क्रमशः तमस् से ज्योति की ओर उन्मुख देखने का ही प्रयास किया है। वर्तमान युग की अर्थ और राजनीति-विषयक दुरभिसन्धियों को हेय मान कर उन्होंने मानवता को उनका परित्याग कर देने का पावन संदेश प्रदान किया है। इस प्रकार मनोविकृति और बौद्धिक आग्रह, सभी उनके समक्ष अवमूल्यित होने लगे हैं और वह अन्त: साधना में लीन पवित्र मानवात्मा को चिरन्तन ज्योति से समन्वित देखने लगे हैं। इस प्रकार के काव्य-रूपकों में कवि का एक विशेष क्रांतिकारी व्यक्तित्व सन्निहित रहा है और यही कारण है कि ये अपनी निरंतर विकासमग्न चेतना से अध्येता की मनस्-भावना को एक बार ही झकझोर जाते हैं। उनका 'ध्वंस-घोष' नामक काव्य-रूपक इस प्रकार की रचनाओं का प्रमुख प्रतिनिधि है।

पंत जी के व्यक्तित्व की दो विशेषताएँ मुख्य रूप से विचारणीय हैं—एक ओर वह कल्पना के माध्यम से अपने काव्य-वैभव का संयोजन करते हैं और दूसरी ओर चिंतन के माध्यम से मानवता को स्थायी संदेश प्रदान करते हैं। उनकी यह चिंतन की परम्परा 'पल्लव' के बाद की रचनाओं में विशेष रूप से प्रतिबिम्बित रही है और उनके काव्य-रूपकों के लिये तो यह चिंतन का भाव ही जैसे आत्म-तत्व के समान है। इनकी रचना करते समय कवि ने अपनी चेतना का विशिष्ट केन्द्रीकरण किया है और प्रत्येक प्रकार से यह प्रयास किया है कि प्राचीन भारतीय चिंतन-प्रणाली तथा वर्तमान पाश्चात्य चिंतन-धारा, दोनों ही अपने संतुलित रूप में उनके काव्य-रूपकों में समाविष्ट रहें। चिंतन के इस वैभव से संयुक्त होने के कारण उनकी तद्विषयक सभी कृतियाँ गाम्भीर्य के एक व्यापक वातावरण से परिवेष्टित रही हैं और प्रौढ़ता की इसी भावना के कारण उन्होंने अध्येता के चित्त को सदैव अधिकतम मात्रा में प्रभावित किया है। स्थूल का परित्याग कर सूक्ष्म का ग्रहण ही उनके काव्य-रूपकों का मुख्य विषय है और इसी कारण उनका स्वरूप इतना भावमय तथा प्रभावशाली

नाटक के अनुरूप ही पन्त जी ने अपने काव्य-रूपकों में सर्वप्रथम पात्र विभाजन किया है और उसके अनन्तर रङ्गमंच के सकेत आदि उपस्थित करते हुये वस्तु शिल्प का सस्कार किया है। गद्य का प्रयोग उन्होंने अन्य काव्यरूपककारो की तुलना में अपेक्षाकृत कम किया है, तथापि रङ्गमच के सकेतो, पात्रो की मनोभावनाओ और पात्र-प्रवेश आदि की चर्चा करते समय उन्होंने गद्य का आश्रय ग्रहण किया है। इसी प्रकार वातावरण की विशिष्ट स्थितियो का उल्लेख करते समय भी उन्होंने प्राय गद्य का अत्यत सक्षिप्त रीति से प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उनके रङ्गमच के इगित काव्य की भाँति ही विशेष भावपूर्ण बन पडे हैं। उदाहरणार्थ 'शिल्पी' के प्रथम दृश्य के निम्नलिखित रगसकेत देखिए —

"शिल्पी का कला-कक्ष, जिसमें विविध आकार-प्रकार की मूर्तियाँ रखी हैं। शिल्पी की शिष्या मूर्तियो की झाड-पोछ कर अलमारियो में सँजो रही है। वृद्ध शिल्पी पर्दे की आड में एक नवीन प्रतिमा के निर्माण में सलग्न है। वह दत्तचित होकर छेनी पर हथोडी चला रहा है और बीच में गुनगुनाता जाता है।"

पत जी ने अपने काव्य रूपको में रस और आनन्द के तत्वो को अक्षुण्ण रखने का सर्वत्र प्रयास किया है। दृश्य-विभाजन करते समय भी उन्होंने इस तथ्य का विशेष ध्यान रखा है और अनावश्यक दृश्य-विस्तार की प्रवृत्ति से पूर्णत बचने की चेष्टा की है। प्राय उनके काव्य-रूपक तीन अथवा चार दृश्यों में ही विभाजित रहे हैं। दृश्यो की भाँति काव्य-रूपक को बोझिलता से सुरक्षित रखने के लिये सलाप-योजना के व्यवस्थित रूप की आवश्यकता होती है। इन सम्वादो के लिये यह आवश्यक है कि इनका विस्तार विशिष्ट सीमाओ में बदी हो और ये कथित न होकर अधिकतर ध्वनित हो। केवल गद्य-रचना में सलाप-कथन ही इष्ट रहता है, किंतु काव्य रूपक की स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ सलाप के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी रागात्मक चेतना द्वारा अध्येता के मतस् को पूर्णत ध्वनित कर देने की क्षमता से सर्वथा युक्त हो। पत जी के काव्य-रूपक सलाप विस्तार की दृष्टि से कही-कही निश्चित रूप से बोझिल हो उठे हैं। यद्यपि उनकी भाषा का माधुर्य इस दोष के निवारण में सर्वत्र प्रयत्नशील रहा है, तथापि कतिपय स्थलो पर सम्वादो का अतिशय विस्तृत व्याख्यान काफी खटकता है। फिर भी सलाप-कथन के दोष से वह मुक्त है और ध्वनन के फलस्वरूप उनके विस्तार-सम्बन्धी प्रथम दोष का भी कुछ मार्जन हो गया है। उदाहरणार्थ उनके 'अप्सरा' नामक काव्य-रूपक में कलाकार द्वारा अभिव्यक्त निम्नलिखित वाक्य-पक्तियाँ देखिए —

यह कैसी संगीत वृष्टि हो रही गगन से
या मेरा ही ध्यान मौन मन गा उठता है ?
कैसा आकर्षण है यह, कैसा सम्मोहन,
यह सौंदर्य मधुरिमा,'''कोई मेरे मन को
जैसे बरबस खीच रहा हो ! क्या है यह सब ?
प्राणों की व्याकुलता, जीवन की व्याकुलता !
अह, अब तो मैं यौवन का रोमाच द्वार भी
पार कर चुका, जब मंजरित दिगत धरा का
मागल कर देता था मन को !

पत जी के काव्य-रूपक प्राय: समस्यामूलक रहे हैं। इसका कारण यही है कि इनकी रचना उनके साहित्यिक जीवन के उत्तर-काल में हुई है और उस समय वह अपनी प्रारम्भिक रम्य-मधुर कल्पना तथा चंचलता का परित्याग कर चुके थे। उत्तरकालीन रचना होने के कारण इन काव्य-रूपकों में चिंतन प्रधान तत्व रहा है और उसका सम्बन्ध स्वभावत: किसी न किसी मौलिक समस्या से होता ही है। पंत जी ने इस संघर्ष को दो रूपो में विभाजित किया है :—

(i) व्यष्टि का संघर्ष।
(ii) समष्टि का सघर्ष।

व्यष्टि का सघर्ष प्राय: अतर्समस्याओ को जन्म देता है और समष्टि-संघर्ष बाह्य समस्याओं को ! इनका कारण यही है कि इनमें से जहाँ प्रथम का स्वरूप एकातिक है, वहाँ द्वितीय का सामूहिक। कवि ने इन दोनों से ही उद्भूत समस्याओ का यथार्थ विश्लेषण किया है और अंत में जीवन की नवीन रागपूर्ण और स्वस्थ दिशा की ओर संकेत किया है। इस प्रकार उन्होने पश्चिम की संघर्षमयी और विज्ञानवादी संस्कृति का प्रशमन कर पूर्व की आनन्दवादी संस्कृति का समर्थन किया है। कटुता और द्वेष का निराकरण कर शाति की स्थापना करने की ओर प्रवृत्त उनका यह प्रयत्न निश्चित रूप से प्रशंसनीय है।

चिंतन की प्रवृत्ति पंत जी के काव्य-रूपकों में प्रमुख रही है। इस चिंतन की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की प्रवृत्ति में लिप्त वासनात्मक अवस्था है और इसका ध्येय मानव की अंतर्ज्योति को निवृत्ति की ओर उन्मुख करना है। चिंतन के सहयोगी तत्व के रूप में इन कृतियों में अनुभूति को स्वर प्रदान किया गया है। अनुभव का सत्य इनके मूल में अत्यंत तिक्त रूप में व्याप्त है और मानव की सम्पूर्ण चेतना को एक बार ही हिला देने में समर्थ है। इस सत्य का दर्शन

निरन्तर सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम है और इससे समन्वित होने के कारण उनके साहित्य में स्थायित्व का गुण कुछ अधिक मात्रा में समाविष्ट हुआ है। 'ध्वंस-शेष' शीर्षक काव्य-रूपक की निम्नलिखित पंक्तियां सत्य के इसी चरम स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं .—

मानव ही है सर्वाधिक मानव का भक्षक,
भौतिक मद से बुद्धि भ्रांत युगजीवी मानव
दानव बन कर आत्मघात कर रहा अंध हो !
शोषक शोषित में विभक्त अब युग मानवता,
जाति पांति में, वर्ग श्रेणि में शतधा खंडित,
धनिकों का श्रमिकों का, धन बल का जन बल का
यह अन्तिम दुर्धर्ष समर है विश्व विनाशक,—
सामूहिक संहार तिक्त विषफल है जिसका !

चिन्तन के आधिक्य से भावनाओं पर बुद्धि की जिन पर्तों का निरन्तर प्रसरण होने लगता है उनसे पृथक् रहने की ओर भी पन्त जी पूर्णतः प्रयत्नशील हैं। दुर्बोध चिन्तन में सुबोध रागात्मकता का सम्मिश्रण करने के लिए ही उन्होंने अपने काव्य-रूपकों में स्थान-स्थान पर गीतों की मधुर गति का आयोजन किया है। ये गीत अपने आप में संख्या की दृष्टि से अधिक होने के साथ-साथ विषय की दृष्टि से भी विविध हैं। यही कारण है कि इन्होंने स्थान-स्थान पर बुद्धि थकित चेतना को विश्राम करने का अवसर प्रदान किया है। 'शिल्पी' का एक इसी प्रकार का मधुर गीत देखिए —

आ जाता वसंत पतझर में
प्राणों का स्पंदन प्रस्तर में,
जगती दिव्य ज्योति अन्तर में,
तम के मूल हिला !

× ×

होता जीवन समर्पण लय
मिटता जरा मरण दुख का भय,
हंस उठता नव युग अरुणोदय
भव संग्राम मिला !

पन्त जी के काव्य-रूपकों का मूल महत्व उनमें व्याप्त इसी मधुर गति-भावना के कारण है। ये सभी रचनाएँ काव्य और नाटक के मध्य सन्धि-स्थल

का वातावरण उपस्थित करती हैं। वर्तमान युग के पाठक ने काव्य और नाटक, दोनो की ही उपेक्षा कर दी है। ऐसी स्थिति में काव्य-रूपक में प्राप्त होने वाली इन दोनों की सम्मिश्रित चेतना सम्भवतः उसका मनोरंजन करने में समर्थ हो सके। इस दृष्टि से काव्य-रूपकों का वर्तमान हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्व है। *इन्होंने उसमें आ जाने वाले गतिरोध का निराकरण करने का प्रत्येक सम्भव* प्रयास किया है और सन्तोष का विषय है कि साहित्य के इस नये प्रकार को अब पर्याप्त प्रोत्साहन और प्रगति की प्राप्ति होने लगी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पन्त जी एक सफल काव्यरूपककार हैं। उनके काव्य-रूपकों में प्रकृति का मनमोहक वातावरण है, जीवन का व्यापक संघर्ष है और अन्त में अध्यात्म का स्वर्गिक् सुख है। शैली की दृष्टि से भी इनमें नाटक की पूर्ण गति है और काव्य के वैभव से युक्त होने के कारण इनमें अमर प्राण हैं। चिन्तन-प्रधान होने के कारण इन काव्य-रूपकों का स्वरूप अपने आप में नितान्त सशक्त है और इनसे यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी ने इस क्षेत्र में अपनी प्रगति द्वारा काव्य-रूपक की कला को पर्याप्त सौन्दर्य प्रदान किया है। नवीन विषय होने पर भी कवि ने इसे जिस रूप में मांजा और निखारा है, वह निश्चय ही उनके समकालीन और परवर्ती कवियों के लिये विशिष्ट प्रेरणाप्रद है।

: १५ :

महादेवी जी की भाव-धारा

आधुनिक युग की कवयित्रियों में सुश्री महादेवी वर्मा का सर्वप्रमुख स्थान है। उनसे पूर्व हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में स्त्री-लेखिकाओं ने अधिक कार्य नहीं किया था और केवल भक्तिकालीन कवयित्री मीराबाई ही अपना पृथक् स्थान बना पाई थी। उनके उपरान्त इस परम्परा के विकास में योग देने वाली कवयित्रियों में सर्वप्रथम महादेवी जी ने ही सशक्त काव्य की रचना की।' उन्होंने पद्य के अतिरिक्त गद्य-रचना के क्षेत्र में भी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। नारी वर्ग की ओर से श्रेष्ठ गद्य-रचना का प्रवर्तन करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके काव्य के भाव-सौष्ठव पर विचार करेंगे।

महादेवी जी की काव्य-रचनाओं का संकलन 'यामा' शीर्षक कृति में हुआ। इसमें संगृहीत 'नीरजा', 'नीहार', 'रश्मि' तथा 'सान्ध्य गीत' नामक रचनाएँ पृथक् संस्करणों में भी उपलब्ध होती हैं। अपने काव्य के उत्कृष्टतम भाग को उन्होंने 'आधुनिक कवि—भाग १' शीर्षक कृति में भी संकलित किया है। उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य का अवलोकन करने के लिए हमारे समक्ष उनके इसी कृतित्व का अध्ययन करने का अवसर आता है। खेद का विषय है कि इधर पिछले दस वर्षों से महादेवी जी ने काव्य-रचना के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उपर्युक्त कृतियों में उन्होंने भाव-प्रतिपादन को पूर्णतः प्रौढ़ स्तर पर स्थापित रखा है, तथापि किसी भी साहित्यकार के लिए यह कदापि शोभनीय नहीं है कि वह एक बार उत्कृष्ट साहित्य की रचना करने के उपरान्त साहित्य-क्षेत्र से पूर्णतः विमुख हो जाए। यही कारण है कि महादेवी जी के उपलब्ध काव्य का अध्ययन करने के उपरान्त जब उसमें रस प्राप्त करने वाला पाठक उनके नवीनतम साहित्य की खोज करता है तब उसे पूर्णतः निराश होना पड़ता है।

महादेवी जी ने अपने काव्य को अध्यात्म-क्षेत्र से सम्बद्ध रखा है। उन्होंने आत्मा के परमात्मा के प्रति विरहोद्गारों को विभिन्न रूपों में उपस्थित

किया है। इन विरह चित्रों में मूलतः अध्यात्म-जगत् को ही उपस्थित किया गया है, किन्तु कतिपय आलोचकों ने इनमें भौतिक प्रेम विकास के भी दर्शन किए हैं। अतः यह आवश्यक था कि महादेवी जी की ओर से इस प्रकार के काव्य को उपस्थित किया जाता जो आलोचकों के समक्ष उनके आत्म विकास को और भी सजग रूप में उपस्थित करता। यह ठीक है कि अध्यात्म-तत्व की ओर वह प्रेरित रही होंगी, किन्तु इस तत्व से सम्बद्ध विचारों को उपस्थित करने के लिए जिस प्रौढ़ता की आवश्यकता होती है, उसका पूर्ण परिपाक हमें उनकी कविताओं में उपलब्ध नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि महादेवी जी ने अपने काव्य के प्रतिपाद्य का और भी विकास किया होता तो उनकी भाव धारा को हृदयगम करने में हमें और भी अधिक सफलता प्राप्त होती। वस्तुतः इस दृष्टि से महादेवी जी को कविवर सुमित्रानन्दन पन्त से प्रेरणा लेनी चाहिए थी। पन्त जी ने प्रगतिवादी काव्य धारा में योग प्रदान करने के उपरान्त अपने काव्य की अपूर्णताओं को पहचान कर जिस प्रकार अपने काव्य में दिशा-परिवर्तन किया उसी प्रकार उन्हें भी अपने काव्य को कुछ भावान्तर के साथ उपस्थित करना चाहिए था। अस्तु, इसके अभाव में हमें उनके काव्य के उपलब्ध रूप का ही अध्ययन करना होगा और हम उनके काव्य की भाव विशेषताओं का उनकी प्राप्त काव्य-कृतियों के आधार पर ही परीक्षण करेंगे।

महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना करते समय छायावाद और रहस्यवाद से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है। उनके काव्य में रस, कल्पना, प्रकृति, दर्शन और वैयक्तिकता का जिस रूप में समावेश हुआ है उस पर इन दोनों काव्य-वादों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है और उनके काव्य-संग्रहों में 'नीरजा', 'नीहार', 'दीपशिखा' तथा 'सान्ध्य-गीत' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वर्तमान युग की कवयित्रियों में उनका स्थान सर्वोपरि है और भाव-पक्ष की दृष्टि से उनका काव्य अत्यन्त समृद्ध बन पड़ा है। आगे हम उनके काव्य की विभिन्न भाव विभूतियों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे —

रस-नियोजन

रहस्यवादी प्रकृति से युक्त होने के कारण महादेवी जी के काव्य में करुण रस और शान्त रस का व्यापक प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने शृंगार रस के भी विविध मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः अध्यात्म भावना से रहा है। परमात्मा के वियोग में आत्मा की करुण

स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने करुण रस की अनेक स्थानों पर सुन्दर योजना की है। इसी प्रकार दिव्य शक्ति के महत्त्व-प्रतिपादन, आत्म-बोधन और चिर मिलन सम्बन्धी कविताओं में उन्होंने शान्त रस का सुन्दर निर्वाह किया है। अतः यह स्पष्ट है कि उनकी कविताओं में शान्त रस के सभी अंग वर्तमान रहे हैं। यद्यपि यह सत्य है कि शान्त रस का यह स्वरूप कबीर, सूर और तुलसी की रचनाओं में प्राप्त होने वाले शान्त रस से पर्याप्त भिन्न है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है। अन्तर यह है कि जहाँ भक्ति काल के इन सन्त कवियों ने शान्त रस से सम्बद्ध भावों को सहज-स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है वहाँ महादेवी जी अपने भावों को उतना स्पष्ट न रख सकी हैं। इसका कारण अनुभूति की अपूर्णता भी हो सकता है अर्थात् महादेवी जी की ईश्वर विषयक अनुभूति के समृद्ध न होने के कारण भी उनके काव्य में शान्त रस का स्वरूप भिन्न आधार पर प्राप्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि अभिव्यक्ति की जटिलता और अनुभूति की अप्रौढ़ता के कारण महादेवी जी की अनेक कविताओं में शान्त रस का पूर्ण परिपाक उपलब्ध नहीं होता, तथापि उनकी कुछ कविताएँ इसकी अपवाद स्वरूप भी हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित कविता में शान्त रस का उत्कृष्ट समाहार देखिए —

> झटक जाता था पागल वात
> धूलि में तुहिन-कणों के हार,
> सिखाने जीवन का संगीत
> तभी तुम आए थे इस पार !
>
> × ×
>
> गए तब से कितने युग बीत
> हुए कितने दीपक निर्वाण,
> नहीं पर मैंने पाया सीख
> तुम्हारा-सा मनमोहन गान !
> नहीं अब गाया जाता देव !
> थकी अँगुली, हैं ढीले तार,
> विश्व वीणा में अपनी आज
> मिला लो यह अस्फुट झंकार !

—(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, गीत संख्या १)

महादेवी जी ने अपने काव्य में शृंगार रस को भी पर्याप्त स्थान प्रदान किया है, किन्तु यह रस अनिवार्यतः अध्यात्म-तत्त्व से परिवेष्टित रहा है।

संयोग शृंगार का चित्रण करते समय उन्होंने उसमें नायिका-भेद का भी रम्य मिश्रण कर दिया है। उदाहरणार्थ ईश्वर को पति-रूप में ग्रहण करने वाली आत्मा की निम्नलिखित उक्ति में उत्कण्ठिता नायिका का उक्ति-साम्य देखिए :—

> क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
> शशि के दर्पण में देख देख,
> मैंने सुलझाये तिमिर केश,
> गूँथे चुन तारक-पारिजात,
> अवगुण्ठन कर किरण अशेष,
> क्यों आज रिझा पाया उसको,
> मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

उपर्युक्त पद में सामान्य नारी की प्रेम-ध्वनि भी हो सकती है। इसी प्रकार उन्होंने आत्मा के कृष्णाभिसार का भी रूपक के द्वारा सुन्दर वर्णन किया है। संयोग शृंगार की भाँति उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार की भी अनेक मार्मिक उक्तियाँ उपस्थित की हैं। उन्होंने विरह-वेदना में शौर्य-भाव का मिश्रण करते हुए नायिका को विरह-सजग रहने का उपदेश दिया है और इसी कारण वह वियोग के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख सकी हैं —

> विरह की घड़ियाँ हुई अलि,
> मधुर मधु की यामिनी सी !

रहस्यवादी प्रवृत्ति

महादेवी जी ने अपने काव्य में ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति को मार्मिक रूप में चित्रित करते हुए रहस्यवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुकूल उत्कृष्ट काव्य-रचना की है। उन्होंने अपने रहस्यवाद में जायसी के सर्ववाद का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होंने महात्मा कबीर की भाँति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति के रूप में चित्रित करते हुए रहस्यवाद में भावात्मकता का भी सुन्दर सम्मिश्रण किया है।

महादेवी जी की आत्मा ईश-मिलन की आशा आकांक्षा लिए हुए वियोग के कारण अत्यन्त विकल रही है। इस दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य में रहस्यवाद की जिज्ञासा, साधना और मिलन की तीनों स्थितियों को चित्रित किया है और इस प्रसंग में अनेक स्थानों पर अपने मौलिक चिन्तन का भी परिचय दिया है। उनके जीवन-दर्शन में एक विशेष गम्भीरता और मार्मिकता का समावेश रहा है तथा उसके आधार पर उन्होंने अपनी रहस्यवादी विचार-

धारा को भी प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं अनुभूति के अभाव और अस्पष्टता के प्रभाव के कारण उनके रहस्यवादी काव्य में दुरूहता का समावेश हो गया है, तथापि अधिकांशतः उसमें आत्म-वेदना के अन्तर्विकास को सजीव रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। यथा :—

छिपा है जननी का अस्तित्व,
रुदन में शिशु के अर्थ विहीन,
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान,
चित्र को ही जड़ता में लीन,
दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार!

महादेवी जी ने रहस्यवाद को उसके प्रचलित रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त उसे कतिपय कविताओं में मौलिक रूप भी प्रदान किया है। उन्होंने रहस्यवाद की जिज्ञासा, साधना और आनन्द की स्थितियों को प्राचीन परम्परा से भिन्न रूप में उपस्थित किया है और उनके रहस्यवादी प्रतीक भी अनेक कविताओं में नवीन रहे हैं। इतना स्पष्ट है कि वह आधुनिक युग के रहस्यवादी काव्य में परिष्कार उपस्थित करने पर बल देती हैं और आधुनिकयुगीन कवि द्वारा उसे केवल प्रचलित रूप में ही विकसित करने से सहमत नहीं हैं। इस धारणा के संकेत हमें उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त होते हैं —

"एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम विषम शिलाओं से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम विरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद प्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुन्दरतम अभिव्यक्ति।'

—(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ १६)

छायावादी प्रवृत्ति

आधुनिक युग में छायावादी काव्य की रचना करने वाले साहित्यकारों में महादेवी जी का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविताओं में उसकी कला और भावना से सम्बद्ध सभी विशेषताओं को ग्रहण किया है और इन दोनों ही क्षेत्रों में उसे अनेक मौलिक तत्व प्रदान किये हैं। इस दृष्टि से उन्होंने

एक ओर तो छायावाद की प्रगीत शैली, चित्र शैली और प्रतीकात्मक अभिव्यंजना की पद्धतियों को ग्रहण किया है और दूसरी ओर उनकी कविताओं में अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा, प्रकृति का मानवीकरण, वैयक्तिकता और भावुकता आदि छायावाद की विभिन्न भाव-विशेषताओं का समावेश हुआ है। उनके काव्य में प्राप्त होने वाली वेदना, निराशा और करुणा की भावनाओं पर भी छायावादी भाव धारा का स्पष्ट प्रभाव रहा है। छायावादी काव्य की रचना के अतिरिक्त उन्होंने छायावाद के विषय में मौलिक चिन्तन भी किया है। उदाहरणार्थ छायावादी काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा न होने के कारणों के विषय में उनके निम्नलिखित विचार देखिये —

"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"

—(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २६)

महादेवी जी के छायावादी काव्य में भावुकता और वैयक्तिकता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। वैयक्तिकता, स्वर्गिक सौन्दर्य का चित्रण, कल्पना की अधिकता और विश्व की अनित्यता पर रुदन छायावाद के प्रमुख लक्षण रहे हैं और महादेवी जी के काव्य में इन सभी का सफल समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए —

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास,
देव वीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षण भंगुर उपहार,
रत्न वह प्राणों का शृंगार,
नई आशाओं का उपवन,
मधुर वह था मेरा जीवन!

प्रकृति चित्रण

महादेवी जी ने अपनी कविताओं में कल्पना के आधार पर प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है और इसी कल्पना के आधार पर उसका मानवीकरण कर दिया है। प्रकृति की छवि का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसका मानव जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया है और कहीं-कहीं अपनी विरह भावना को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने प्रकृति का चित्रण करते समय कल्पना से पर्याप्त सहायता ली है।

मेघ के लिए 'चाँदनी घुला अंजन-सा' कहकर उन्होंने इसी कल्पना-प्रियता का परिचय दिया है। उनके प्रकृति-चित्रों में ऊहात्मकता का भी समावेश हुआ है, किन्तु इस ऊहा का स्वरूप रीतिकालीन प्रवृत्ति से भिन्न है और कवयित्री ने इसमें छायावादी भावना का सम्मिश्रण कर इसे भी सौन्दर्य सजग बना दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने कल्पना की अधिकता और मौलिकता के आग्रह के कारण कहीं कहीं अपने प्रकृति-चित्रों में स्पष्टता और दुरूहता का समावेश कर लिया है, तथापि समष्टि रूप में उन्होंने प्रकृति के अनेक रम्य-अद्भुत सौन्दर्य-चित्र उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ ऊषा द्वारा नभ में किरणों के पसार का निम्नलिखित चित्रण देखिए :—

> अज्ञात पुलिन से उज्ज्वलतर,
> किरणें प्रवाल तरणी में भर,
> तम के नीलम-कूलों पर नित,
> जो ले आती ऊषा सस्मित—।

छायावादी काव्य-रचनाओं में प्रकृति-चित्रण को मुख्य स्थान प्राप्त रहा है। महादेवी जी ने अपनी कविताओं में प्रकृति चित्रण का व्यापक आधार ग्रहण किया है, किन्तु आलम्बनात्मक प्रकृति-चित्र उनके काव्य में कम ही प्राप्त होते हैं। वस्तुतः उन्होंने प्रकृति को साधनारत जीवन के निकट सम्पर्क में स्थापित रखा है और प्राय प्रतीक शैली के माध्यम से उसे आत्म विकास में सहायक तत्व के रूप में उपस्थित किया है। फिर भी उनके काव्य में आलम्बनात्मक प्रकृति चित्रों का पूर्ण अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ हिमालय पर्वत का निम्नलिखित चित्रण देखिए —

> हे चिर महान !
> तव स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल,
> बरसा जाती रंगीन हास,
> मेली बनता है इन्द्रधनुष,
> परिमल मल मल जाता बतास !
> पर रागहीन तू हिम निधान !
>
> —(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, गीत-संख्या ८७)

इतर भावगत विशेषताएँ

महादेवी जी के काव्य में भाव-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित भाव-तत्वों को भी सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है :—

(अ) कल्पना :—

महादेवी जी के काव्य में कल्पना को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है और अपने प्रकृति-चित्रों में उन्होंने उसका सर्वाधिक समावेश किया है। इतना होने पर भी उनकी विविध कल्पनाओं में समानता का अभाव है और कहीं-कहीं एक ही कविता में उनका निरन्तर गतिबद्ध प्रसार भी लक्षित नहीं होता। तथापि यह स्थिति सर्वत्र नहीं रही है और कुछ स्थानों पर उनकी कल्पनाएँ अत्यन्त आकर्षक तथा मार्मिक हो गई हैं। उदाहरणार्थ जीवन और जगत् के सम्बन्ध के विषय में उनकी निम्नलिखित कल्पना देखिए —

है अन्त हीन लय यह जग,
पल पल है मधुमय कम्पन।
तुम इसकी स्वर लहरों में,
धोना अपने श्रम के कण॥

(ब) राष्ट्र भावना :—

आधुनिक युग में कवियों ने राष्ट्र भावना के चित्रण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। यही कारण है कि यद्यपि महादेवी जी के काव्य में इसके लिए अवकाश नहीं था, तथापि उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से अपने राष्ट्र-प्रेम को भी व्यक्त किया है। केवल राष्ट्रीयता को लेकर उन्होंने कुछ ही कविताओं की रचना की है किन्तु प्रसंगगत रूप में इस विचार-धारा को उनकी कतिपय कविताओं में निश्चित स्थान प्राप्त हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि यह उनके काव्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनकी राष्ट्र प्रेम-सम्बन्धी भावनाएँ पर्याप्त प्रभावशाली बन पड़ी हैं। इस प्रकार की कविताओं में प्रायः उन्होंने राष्ट्र की दुरावस्था की ओर संकेत करते हुए उनमें वेदनावाद का मिश्रण कर दिया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित कविताश देखिए —

कह दे माँ क्या अब देखूँ!
देखूँ खिलतीं कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा
या जर्जर जीवन देखूँ!

देखूँ हिमहीरक हँसते
हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से
झरते आँसू-कण देखूँ !
—(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, गीत-संख्या २२)

(ज) दार्शनिकता :—

रहस्यवादी काव्य की रचना के कारण महादेवी जी के समक्ष दार्शनिक विचार-धारा की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश विद्यमान था। उन्होंने अपने काव्य में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश किया है और इनमें से अद्वैतवाद ही उन्हें विशेष प्रिय रहा है। उन्होंने प्रकृति और पुरुष, दोनों को अनादि माना है और जीव तथा ब्रह्म में वह अभिन्नत्व की स्थिति को देखने की इच्छुक हैं। इसी प्रकार द्वैताद्वैत के अन्तर्गत उन्होंने जीव और ब्रह्म के पार्थक्य और अभिन्नत्व के सम्मिलित दर्शन किये हैं। यथा —

चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम !

विश्लेषण

महादेवी जी के काव्य का उपर्युक्त अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य का भाव-पक्ष अनेक दिशाओं में विकासशील रहा है। भावनाओं की सुकुमारता और मार्मिकता के अतिरिक्त उनकी कविताओं में विचारों की तथ्याभिव्यक्ति और चिन्तन-प्रणाली भी उपलब्ध होती है। इन विभिन्न भाव-धाराओं का सम्बन्ध मूलतः अध्यात्म क्षेत्र से ही रहा है। महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है। अतः उनकी कविताओं में भावों के विविधतापूर्ण संयोजन के लिए विपुल अवसर वर्तमान रहे हैं। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक विचार-धारा को स्पष्ट करने के लिए जहाँ एक ओर परम्परागत रीति के अनुकूल दर्शन-शास्त्र का आधार लिया है वहाँ दूसरी ओर रस, कल्पना, प्रकृति आदि इतर तत्वों से भी उसे परिपुष्ट किया है।

इस स्थल पर यह पुनः विचारणीय है कि क्या महादेवी जी की कविताओं में आध्यात्मिकता का अभाव है ? यद्यपि इस विषय में आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं, किन्तु हम महादेवी जी के वक्तव्य को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते। उन्होंने अध्यात्म तत्व को काव्य में नूतन शैली से

अभिव्यक्त करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए अपने विचारों को इस प्रकार उपस्थित किया है —

"कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष-रूप भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबन्धुता, मानव धर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व नहीं रहता। इस कथन में अध्यात्म को बलात् लोकसंग्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में भी सफल है परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव हो सकेगी।"

—(आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ १८)

मैं समझता हूँ कि इस भूमिकांश के अध्ययन के उपरान्त महादेवी जी के काव्य की मूल वृत्ति के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। हमें यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उन्होंने अपने काव्य में अध्यात्म-तत्व को मुख्य स्थान प्रदान किया है अतः ही लौकिक रूपकों के प्राधान्य के कारण उनके काव्य में यत्र-तत्र भौतिक प्रेम-विलास के संकेत प्राप्त होते हैं और वहाँ आध्यात्मिकता का आलोक कुछ क्षीण पड़ गया है।

: १६ :

महादेवी जी का काव्य-शिल्प

महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना करते समय रहस्यवाद और छायावाद से प्रेरणा ग्रहण की है। अतः उनके काव्य का काव्य-शिल्प भी इन दोनों के अनुकूल रहा है अर्थात् अपने रहस्यवादी काव्य में उन्होंने भाव पक्ष पर अधिक ध्यान दिया है और छायावादी कविताओं में भावात्मकता के अतिरिक्त कलात्मकता के सयोजन की ओर भी वह पूर्णतः प्रवृत्त रही हैं। प्रस्तुत निबन्ध का विषय उनके रचना-शिल्प की चर्चा करने से सम्बद्ध है। वस्तुतः किसी भी काव्य-कृति के शिल्प अथवा कलात्मक सौन्दर्य का परीक्षण करने के लिए हमें उसमें समाविष्ट शैली, अलकारों तथा काव्य-गुणो आदि का विधिवत् अन्वेषण करना होगा। इन विभिन्न कला-तत्वो से युक्त होने पर ही किसी काव्य-रचना में अध्येता को वाह्य दृष्टि से आकर्षित करने वाले सौन्दर्य-गुणो का समावेश सम्भव हो पाता है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य में कला-तत्वो का स्थान भाव-तत्वो की अपेक्षा गौण होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कवि द्वारा कला-सौन्दर्य की योजना की ओर ध्यान ही न दिया जाए। वस्तुतः कला का भावना से गहन सम्बन्ध होता है। अत काव्य मे भाव-समृद्धि के साथ-साथ कला-वैभव का होना भी नितान्त आवश्यक है।

कवयित्री महादेवी वर्मा ने अपने काव्य की रचना अधिकतर छायावादी युग में की है तथा वह छायावाद के कला सौन्दर्य की मुख्य प्रशासिका तथा समर्थिका रही हैं। अत उनके काव्य में कला के प्रचलित रूप के साथ-साथ उसके छायावादी सूक्ष्म उपकरणो का भी पर्याप्त मात्रा मे समावेश हुआ है। उन्होंने अपने काव्य की रचना प्रगीत शैली के अनुसार की है तथा अपनी अभिव्यजना-प्रणाली को अधिक से अधिक रम्य रखने का प्रयास किया है। छन्द-योजना के अतिरिक्त उनकी कविताओं में शेष सभी कला-उपकरण सहज रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। आगे हम इनमें से प्रत्येक उपकरण का पृथक्-पृथक् परिचय उपस्थित करेंगे।

चित्र-शैली

महादेवी जी के काव्य में चित्र शैली का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है अर्थात् उन्होंने अपने भावों को अनेक स्थानों पर सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। स्वयं चित्रकर्त्री होने के कारण उन्हें इस शैली का प्रयोग करने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में अपने काव्य में चित्रात्मकता की योजना करने के लिए वह सर्वत्र सजग रही हैं और उन्होंने अपनी कविताओं में इसके लिए उपयुक्त स्थलों की सफल खोज की है। इस दृष्टि से उनके 'सान्ध्य-गीत' तथा 'दीप-शिखा' नामक काव्य-सग्रहों में क्रमशः सन्ध्या और रात्रि के वातावरण की चित्रमय अभिव्यक्ति निश्चय ही साधारण अभिव्यंजना शैली से श्रेष्ठ स्तर पर उपस्थित हुई है। चित्र शैली को पूर्णता प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने काव्य में रंग-वैभव की योजना पर भी उचित ध्यान दिया है। उन्होंने अपनी भावनाओं तथा विविध दृश्यों को तदनुरूप रंगों से चित्रित किया है अर्थात् उनके स्पष्टीकरण के लिए सर्वत्र उचित वर्णों से मिश्रित उपमानों के प्रयोग का ध्यान रखा है। यद्यपि यह सत्य है कि वर्ण्य विषय की विशिष्ट परिधि में आबद्ध रहने के कारण चित्र-शैली की मौलिकता का उनके काव्य में क्रमशः ह्रास होता गया है तथा पन्त जी की भाँति वह उसके प्रयोग में अधिक विविधता का प्रदर्शन नहीं कर सकी हैं, तथापि उनके काव्य में चित्रमय अभिव्यक्ति का जो रूप सहज-उपलब्ध रहा है वह भी अपने आप में कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथा :—

तू जल-जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय।
मधुर मिलन में मिट जाता तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल मिल॥
मदिर मदिर मेरे दीपक जल!
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

प्रगीत शैली

महादेवी जी के काव्य में प्रगीत शैली का अत्यन्त व्यापक स्तर पर प्रयोग हुआ है। वास्तव में उनके काव्य का ध्येय भी प्रगीत शैली को ग्रहण करना ही था तथा इस दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य में गीतों को विभिन्न कला-विशेषताओं का सुन्दर समन्वय किया है। छन्दोबद्ध काव्य की अपेक्षा प्रगीत काव्य में भावाभिव्यक्ति के लिए अधिक सुविधा रहती है। अतः महादेवी जी अपने वदना-

भाव को प्रकट करने में पूर्णत सफल रही है। उन्होंने अपने गीतों की रचना करते समय साहित्यिक गीतों की उपलब्ध परम्परा का प्रयोग करने के साथ-साथ उन्हें लोक-गीतों की सहज प्रवाहपूर्ण शैली से भी सम्बद्ध रखा है तथा उनमें आत्मा की रागात्मिका वृत्ति का सहज उद्भावन किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य केवल गेय रूप में ही उपलब्ध होता है और वर्तमान युग के अन्य गीत-रचयिताओं की भाँति उन्होंने प्रगीत काव्य के अतिरिक्त छन्दोबद्ध काव्य की रचना नहीं की है। यही कारण है कि वर्तमान युग में गीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों तथा कवयित्रियों में उनका अग्रिम स्थान है।

महादेवी जी ने अपने गीति-काव्य में संगीत के सूक्ष्म तथा स्थूल, दोनों प्रकार के उपकरणों का आश्रय लिया है। यही कारण है, कि उन्होंने अपनी कविताओं में भाव-समृद्धि के अतिरिक्त लय तथा ताल के समवेत सयोजन पर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने अपने काव्य में प्रगीत शैली की योजना करते समय 'निराला' जी की भाँति संगीत शास्त्र का व्यापक आधार नहीं लिया है, तथापि उनके गीतों में शब्दों की लयपूर्ण अभिव्यक्ति असन्दिग्ध रूप में वर्तमान रही है। इसी प्रकार कोमल-कांत पद-विन्यास के आयोजन द्वारा भी उन्होंने अपने गीतों को सहज आकर्षणमय रखा है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए —

यह मन्दिर का दीप, इसे नीरव जलने दो !
रजत शंख-घडियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गए आरती बेला को शत शत लय से भर,
जब था कल कण्ठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो !

इतर शैलियाँ

उपर्युक्त दो प्रमुख शैलियों का प्रयोग करने के अतिरिक्त महादेवी जी ने अपने काव्य में कतिपय अन्य काव्य शैलियों का भी समावेश किया है। इस दृष्टि से सम्बोधन शैली तथा प्रश्न शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्बोधन शैली के अन्तर्गत उन्होंने प्राय अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए भावाभिव्यक्ति की है और इस आत्म-कथन में यथास्थान उद्बोधन शैली का भी समावेश किया है। इस कथन से हमारा तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपनी कविताओं में अनेक स्थानों पर उद्बोधनपरक सम्बोधन शैली का प्रयोग करते हुए आत्म-जागरण

भाषा

महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना खड़ी बोली में की है और उनकी भाषा में मधुरता तथा कोमलता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने छायावाद की विविध कला-विषयक विशेषताओं का आधार ग्रहण करते हुए अपनी भाषा को उनके माध्यम से सहज शृंगार प्रदान किया है। शब्द-प्रयोग करते समय उन्होंने प्राय संस्कृत के सरल तत्सम शब्दों और उनके तद्भव रूपों का सचय किया है। उन्होंने अपने काव्य में भाव-गति को मुख्य स्थान प्रदान किया है। छन्दोबद्ध काव्य में कवि को छन्द निर्वाह के लिए भाव-गति को कहीं न कहीं खण्डित अवश्य करना पड़ता है, किन्तु गीति-काव्य में इस विषय में कवि को पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। महादेवी जी ने भी गीति-काव्य के लय-तत्व के माध्यम से अपने काव्य की भाव-गति को पूर्णत सुरक्षित रखा है। इसके लिए उन्होंने कहीं-कहीं शाब्दिक अंग-भंग की प्रवृत्ति का भी परिचय दिया है तथा अनेक स्थानों पर ह्रस्व मात्राओं को दीर्घ में तथा दीर्घ मात्राओं को ह्रस्व में परिवर्तित कर दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी कविताओं में 'अधार' (आधार) तथा 'ज्योती' (ज्योति) जैसे शब्दों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। छायावाद और रहस्यवाद की प्रतीक शैली को ग्रहण करते हुए उन्होंने अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इन प्रतीकों में विविधता, अनेकार्थकता और गूढ़ार्थ व्यजना का उपयुक्त समावेश हुआ है और इन सबसे युक्त होने के कारण ये मौलिकता से भी समृद्ध रहे हैं। विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य के रहस्यवाद-विषयक प्रकरणों में कतिपय स्थलों पर अरबी और फारसी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है।

महादेवी जी ने लोक-गीतों में प्राप्त होने वाले सहज प्रवाह से प्रभावित होकर अपनी भाषा में यत्र-तत्र ग्रामों में सहज प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार का शब्द-प्रयोग स्वाभाविकता पर आधृत रहा है और उसमें सहजता के गुण की विशिष्ट सन्निहिति हुई है। वायु के लिये 'बतास' शब्द का प्रयोग उनकी इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। उनके शब्दों में ध्वन्यात्मकता के गुण का भी सुन्दर समावेश हुआ है और इस दिशा में उन्होंने कतिपय स्थलों पर रीतिकालीन कवियों की भाँति ध्वनियों को अत्यन्त कोमल तथा चित्रमय अभिव्यक्ति प्रदान की है। वास्तव में उनकी शब्द-योजना में शिल्पी के कला-कौशल का आकर्षक समावेश हुआ है। उन्होंने व्याकरण के नियमों का प्रयोग करने में स्वतन्त्रता का परिचय दिया है तथा प्राय उनके काव्य में विशेष

व्यवधान अथवा गतिरोध दृष्टिगत नही होता, तथापि कतिपय स्थलो पर उनकी कुछ भाषा विषयक असावधानियाँ चिन्तनीय भी हो गई हैं। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य पंक्तियो मे 'प्रति रोमो' शब्द का अनुचित प्रयोग देखिए —

पालूँ जग का अभिशाप कहा ?
प्रति रोमों में पलकें लहरी।

महादेवी जी ने अपनी भाषा को सज्जा प्रदान करने के लिए लक्षणा तथा व्यजना नामक शब्द शक्तियों का व्यापक आधार ग्रहण किया है तथा उनके काव्य में इन दोनो के अनेक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। गुण-प्रयोग की दृष्टि से उनकी कविताओं में माधुर्य गुण को शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ है तथा उसके अचल में प्राय प्रसाद गुण का भी प्रशसनीय पोषण हुआ है। इस प्रकार उनके माधुर्य गुण से अभिषिक्त लाक्षणिक प्रयोग उनकी भाषा पर छायावादी प्रभाव का स्पष्ट सकेत करते हैं। वृत्तियो की दृष्टि से उनकी कविताओं में उपनागरिका वृत्ति का नितान्त रमणीय प्रयोग उपलब्ध होता है। भाषा की सहजता के निर्वाह के लिए उन्होने अपनी रचनाओं में मुहावरो तथा लोकोक्तियो का भी यथास्थान समावेश किया है। इसी प्रकार अनुस्वारान्त शब्दो के बहुल प्रयोग द्वारा उन्होने अपनी भाषा को विशेष मधुरता और कोमलता प्रदान की है। इस कोमलता का उनकी भाषा में इतना प्रबल आग्रह रहा है कि कतिपय स्थलो पर वह सहसा कोमल भावनाओं को तदनुकूल कोमल अभिव्यक्ति प्रदान करने में असमर्थ भी हो गई है। तथापि समष्टि रूप मे हम यह कह सकते हैं कि महादेवी जी ने अपने गीति-काव्य में कोमल कान्त पदावली का सफल समावेश करते हुए उसे छायावाद के भाषा विषयक सूक्ष्म उपकरणो से पूर्णत सज्जित किया है।

शैली

शैली-प्रयोग के लिए कवि को मुक्तक काव्य में सर्वाधिक सुविधा प्राप्त रहती है। यद्यपि प्रबन्ध काव्य में भी अनेक प्रकार की शैलियो का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु मुक्तक काव्य में विविध विषयो के प्रतिपादन के लिए पूर्ण सुविधा रहती है और विषयानुसार शैली का परिवर्तित होना सहज-साध्य रहता है। महादेवी जी ने अपने काव्य को मुक्तक रूप में ही उपस्थित किया है। अत उनकी रचनाओं में शैली वैविध्य की पूर्ण स्थिति रही है। आगे हम इन सभी शैलियो पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

चित्र-शैली

महादेवी जी के काव्य में चित्र-शैली का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है अर्थात् उन्होंने अपने भावों को अनेक स्थानों पर सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। स्वयं चित्रकर्त्री होने के कारण उन्हें इस शैली का प्रयोग करने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में अपने काव्य में चित्रात्मकता की योजना करने के लिए वह सर्वत्र सजग रही हैं और उन्होंने अपनी कविताओं में इसके लिए उपयुक्त स्थलों की सफल खोज की है। इस दृष्टि से उनके 'सान्ध्य-गीत' तथा 'दीप-शिखा' नामक काव्य-संग्रहों में क्रमशः सन्ध्या और रात्रि के वातावरण की चित्रमय अभिव्यक्ति निश्चय ही साधारण अभिव्यंजना शैली से श्रेष्ठ स्तर पर उपस्थित हुई है। चित्र-शैली को पूर्णता प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने काव्य में रंग-वैभव की योजना पर भी उचित ध्यान दिया है। उन्होंने अपनी भावनाओं तथा विविध दृश्यों को तदनुरूप रंगों से चित्रित किया है अर्थात् उनके स्पष्टीकरण के लिए सर्वत्र उचित वर्णों से मिश्रित उपमानों के प्रयोग का ध्यान रखा है। यद्यपि यह सत्य है कि वर्ण्य विषय की विशिष्ट परिधि में आबद्ध रहने के कारण चित्र-शैली की मौलिकता का उनके काव्य में क्रमशः ह्रास होता गया है तथा पन्त जी की भाँति वह उसके प्रयोग में अधिक विविधता का प्रदर्शन नहीं कर सकी हैं, तथापि उनके काव्य में चित्रमय अभिव्यक्ति का जो रूप सहज-उपलब्ध रहा है वह भी अपने आप में कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथा :—

> तू जल-जल जितना होता क्षय,
> वह समीप आता छलनामय।
> मधुर मिलन में मिल जाता तू—
> उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल मिल।।
> मदिर मदिर मेरे दीपक जल!
> प्रियतम का पथ आलोकित कर!

प्रगीत शैली

महादेवी जी के काव्य में प्रगीत शैली का अत्यन्त व्यापक स्तर पर प्रयोग हुआ है। वास्तव में उनके काव्य का ध्येय भी प्रगीत शैली को ग्रहण करना ही था तथा इस दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य में गीतों की विभिन्न कला-विशेषताओं का सुन्दर समन्वय किया है। छन्दोबद्ध काव्य की अपेक्षा प्रगीत काव्य में भावाभिव्यक्ति के लिए अधिक सुविधा रहती है। अतः महादेवी जी अपने वेदना-

भाव को प्रकट करने में पूर्णत सफल रही हैं। उन्होंने अपने गीतो की रचना करते समय साहित्यिक गीतो की उपलब्ध परम्परा का प्रयोग करने के साथ-साथ उन्हे लोक-गीतो की सहज प्रवाहपूर्ण शैली से भी सम्बद्ध रखा है तथा उनमें आत्मा की रागात्मिका वृत्ति का सहज उद्भावन किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य केवल गेय रूप में ही उपलब्ध होता है और वर्तमान युग के अन्य गीत-रचयिताओ की भाँति उन्होंने प्रगीत काव्य के अतिरिक्त छन्दोबद्ध काव्य की रचना नही की है। यही कारण है कि वर्तमान युग में गीति-काव्य की रचना करने वाले कवियो तथा कवयित्रियों मे उनका अग्रिम स्थान है।

महादेवी जी ने अपने गीति-काव्य में संगीत के सूक्ष्म तथा स्थूल, दोनो प्रकार के उपकरणो का आश्रय लिया है। यही कारण है, कि उन्होंने अपनी कविताओं में भाव-समृद्धि के अतिरिक्त लय तथा ताल के समवेत संयोजन पर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने अपने काव्य में प्रगीत शैली की योजना करते समय 'निराला' जी की भाँति संगीत शास्त्र का व्यापक आधार नही लिया है, तथापि उनके गीतो में शब्दो की लयपूर्ण अभिव्यक्ति असन्दिग्ध रूप में वर्तमान रही है। इसी प्रकार कोमल कांत पद-विन्यास के आयोजन द्वारा भी उन्होंने अपने गीतो को सहज आकर्षणमय रखा है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए —

यह मन्दिर का दीप, इसे नीरव जलने दो!
रजत शख-घडियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गए आरती बेला को शत-शत लय से भर,
जब था कल कण्ठो का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर म इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो!

इतर शैलियाँ

उपर्युक्त दो प्रमुख शैलियो का प्रयोग करने के अतिरिक्त महादेवी जी ने अपने काव्य में कतिपय अन्य काव्य शैलियो का भी समावेश किया है। इस दृष्टि से सम्बोधन शैली तथा प्रश्न शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्बोधन शैली के अन्तर्गत उन्होंने प्राय अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए भावाभिव्यक्ति की है और इस आत्म-कथन में यथास्थान उद्बोधन शैली का भी समावेश किया है। इस कथन से हमारा तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपनी कविताओ में अनेक स्थानो पर उद्बोधनपरक सम्बोधन शैली का प्रयोग करते हुए आत्म-जागरण

की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। प्रश्न शैली के अन्तर्गत भी उन्होंने प्राय आत्मा से उसकी स्थिति तथा गति के विषय में प्रश्न किए हैं। उन्होंने अपने काव्य में इन दोनो शैलियो के माध्यम से आत्मगत परिस्थितियो के साथ साथ बाह्य जगत् से सम्बद्ध भावनाओ की भी उपयुक्त व्यजना उपस्थित की है। वास्तव में उन्हें इन शैलियो के आत्मगत तथा बहिर्गत रूपो का सयोजन करने में एक ही समान सफलता उपलब्ध हुई है। उदाहरणार्थ प्रश्न शैली के प्रयोग का निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

> क्यो वह प्रिय आता पार नही ?
> शशि के दर्पण में देख-देख,
> मैंने सुलझाये तिमिर केश,
> गूँथे चुन तारक-पारिजात
> अवगुण्ठन कर किरणें अशेष,
> क्यो आज रिझा पाया उसको,
> मेरा अभिनव शृगार नही ?

अलकार-योजना

काव्य में अलकार-प्रयोग से उसके भाव-तत्व और कला-तत्व, दोनो को ही समृद्धि प्राप्त होती है। इसी कारण कविगण प्रारम्भ से ही काव्य रचना के अवसर पर उनका आश्रय लेते आए हैं, तथापि इतना स्पष्ट है कि अलकारो का यह आयोजन पूर्णत प्रकृत आधार पर होना चाहिए। कृत्रिम अर्थात् प्रयास-प्रेरित अलकार-प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य को अतिशय हानि पहुँचती है। वर्तमान युग में छायावादी कवियो ने इस तथ्य को हृदयगम करते हुए अपनी कृतियो में अलंकारो का सूक्ष्म आधार पर सघटन किया है। महादेवी जी ने अपने काव्य-शिल्प की योजना करते समय छायावादी काव्य-दृष्टि से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और यही कारण है कि उनकी कविताओ में अनेक मौलिक तथा कल्पना-प्रसूत उपमान-चित्रो की उद्भावना हुई है।

महादेवी जी ने अपने गीतो में एक ओर तो भाषा की सज्जा के लिए अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि विभिन्न शब्दालकारों का प्रयोग किया है तथा दूसरी ओर भावो को मोहक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उपमा, रूपक तथा अपह्नुति आदि साम्यमूलक अर्थालकारो का विशद प्रयोग किया है। अर्थालकारो को और भी अधिक प्रकर्ष प्रदान करने के लिए उन्होंने चिर प्रसिद्ध उपमानो का प्रयोग करने के अतिरिक्त कही-कही नवीन उपमानो की कल्पना भी की है। इन उपमानो का सम्बन्ध प्राय प्रकृति-क्षेत्र से रहा है। साग रूपक

तथा समासोक्ति नामक अलकारो के प्रयोग की ओर उनकी विशेष रुचि रही है और 'यामा' में हमे इन दोनो अलकारो के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। अलकारो के इस विस्तृत प्रयोग के कारण उनके काव्य में सकर और ससृष्टि नामक अलकारो का भी पर्याप्त मात्रा मे समावेश हो गया है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि महादेवी जी द्वारा प्रयुक्त काव्यालकारो मे कृत्रिमता को स्थान प्राप्त नही हुआ है और उनका काव्य मे प्रसगानुसार स्वतः समावेश हो गया है। अलकार-योजना को उनके लिए कोई अपरिचित अथवा दुस्साध्य विषय नही कहा जा सकता है। उन्होने कला-तत्वो की तुलना में काव्य की भावनात्मकता के महत्व को देखते हुए अपने काव्य मे प्रमुख रूप से अर्थालकारो का ही प्रयोग किया है और इस क्षेत्र में अपनी कुशलता का पूर्ण रूप से परिचय दिया है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित पद में उपमा और रूपक नामक अलकारो का सुन्दर प्रयोग देखिए :—

प्रिय ! साध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग।
छाया-सी काया वीतराग,
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन ॥

छद-प्रयोग

महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना गेय पदो के रूप में की है। अत. उनकी कविताओ में छन्द-प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि जब हम जिज्ञासावश इस दृष्टि से उनके काव्य का अध्ययन करते हैं तब हमे उनके पदो की कतिपय पंक्तियो मे गीतिका तथा सार आदि विविध छदो का [सु]दर प्रयोग उपलब्ध होता है। इस प्रकार के किसी भी छन्द के नियमो का [उन]के काव्य मे यत्र-तत्र नितान्त प्रासगिक रूप में निर्वाह हो पाया है और किसी [भी] पद में किसी एक छन्द का पूर्ण प्रयोग उपलब्ध नही होता। यद्यपि इस [प्रका]र यह स्पष्ट है कि उनके काव्य में छन्द योजना के लिए अधिक अवकाश [नह]ीं रहा है, तथापि यह भी निर्विवाद स्पष्ट है कि उन्होने अपनी कविताओ में [छन्]द-शास्त्र में निर्दिष्ट छन्द-योजना के लिए आवश्यक गति-नियम, यति-बन्धन [औ]र तुक-पालन का सर्वत्र ध्यान रखा है। इस दृष्टि से उनके काव्य मे ऐसे [स्थ]ल अत्यन्त सीमित सख्या में प्राप्त होते हैं जहाँ अन्त्यानुप्रासहीन पक्तियो का [स]मावेश हुआ है, किन्तु छन्द-बन्धन का परित्याग करने की तत्कालीन प्रवृत्ति को लक्षित करने पर ऐसे स्थलो को विशेष चिन्तनीय नही कहा जा सकता।

उपसंहार

महादेवी जी के काव्य-शिल्प का उपर्युक्त अध्ययन करने पर यह
हो जाता है कि उनके काव्य में भावनाओं के साथ साथ कला-तत्वो
भी उपयुक्त रूप में समावेश हुआ है। इस विषय में उन्होंने
भी उपेक्षा का प्रदर्शन नही किया है और तत्कालीन छायावादी प्रवृत्ति के अनु
अपने काव्य को कला-सौष्ठव प्रदान करने का यथासम्भव प्रयास किया है।
कला-सौन्दर्य को आयोजित करने में वह वर्तमान युग के किसी भी कवि से
नहीं रही हैं। अन्त में हमें केवल यही कहना है कि उन्होंने अपने काव्य
चित्र-शैली तथा प्रगीत शैली का प्रयोग कर जिस कोमल भावाभिव्यक्ति
आश्रय लिया है वह निश्चय ही प्रशसनीय है।

: १७ :

महादेवी जी के काव्य में छायावाद

सुश्री महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९६४ में संयुक्त प्रान्त के अन्तर्गत फर्रुखाबाद नामक स्थान में हुआ था। वह कवयित्री होने के साथ-साथ एक कुशल चित्रकर्त्री भी है। 'यामा' में हमें उनकी कला के ये दोनों रूप अत्यन्त विकसित परिमाण में उपलब्ध होते हैं। उनकी कविताओं में करुणा और अनुभूति के साथ-साथ आत्म-प्रकाशन की वृत्ति भी प्रबल रही है। 'नीहार', 'रश्मि', 'सान्ध्य गीत', 'दीप-शिखा' और 'नीरजा', सभी में हम उन्हें आत्म-साधना का उल्लेख करते हुए पाते हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ', 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में वह हिन्दी-साहित्य के सम्मुख एक श्रेष्ठ गद्यकार के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। उनकी शैली अपने आप में सर्वथा मौलिक और अपनत्वपूर्ण है। वस्तुतः उन्हें गद्य और पद्य, दोनों की रचना में समान दक्षता प्राप्त है और इन दोनों के ही क्षेत्रों में उन्होंने खड़ी बोली का विशिष्ट संस्कार किया है।

महादेवी जी के काव्य में अनुभूति और सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। ये दोनों ही तत्व छायावाद के मुख्य तत्व हैं। छायावाद की विषाद-कथन, रहस्यवाद-चित्रण और वैयक्तिकता के समावेश की तीनों विशेषताएँ काव्य के अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत आ जाती हैं और प्रकृति-चित्रण, कल्पना-प्रायोजन आदि इतर भावगत विशेषताएँ सौन्दर्य तत्व में समाहारित रहती हैं। छायावाद को उन्नयन की ओर ले जाने वाले साहित्यकारों में महादेवी जी का प्रमुख स्थान है। अतः उनके काव्य में उसकी सभी भावगत तथा कलागत विशेषताएँ अपनी पूर्ण समृद्धि के साथ वर्तमान रही हैं और इस सम्बन्ध में उनकी कतिपय असावधानियों को प्रारम्भिक होने के कारण क्षम्य माना जा सकता है। उन्होंने अपनी कविताओं में प्रकृति को एक चेतन व्यक्तित्व से आवेष्टित माना है। पन्त जी की भाँति उनकी कविता भी अन्तर्मुखी है, किन्तु उसमें उल्लास की अपेक्षा एक विशिष्ट दुखवाद के स्वर ही प्रधान हैं। इस सम्बन्ध में हम उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :—

घनराती जाती है दिन रैन,
सबालस तेरी प्याली मीत,
ज्योति होती जाती है क्षीण,
मौन होता जाता संगीत,
करो नयनों का उन्मीलन
क्षणिक है मतवाले जीवन !

महादेवी जी कविता मे व्यक्तिगत अनुभूति के प्रतिफलन को एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार करती है। वह सौन्दर्य के सूक्ष्म उद्भावन म विश्वास रखती है और यही कारण है कि उनकी रचनाओं म काव्य का सत्य पूर्णतः जागरूक हो उठा है। वह बुद्धिवादी भाव-धारा का परित्याग कर रागात्मिका वृत्ति की ओर उन्मुख करने वाली भावनाओं को प्रश्रय प्रदान करना कही अधिक युक्तिसगत समझती है। 'आधुनिक कवि' के प्रथम भाग की भूमिका उन्होंने स्पष्टतः लिखा है '—

"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण सवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जावे।"

—(पृष्ठ-संख्या ३३)

प्रस्तुत निबन्ध की रचना का उद्देश्य महादेवी जी के काव्य में छायावादी सिद्धान्तों का अन्वेषण करना है। हिन्दी-काव्य म छायावादी भावनाओं का उद्भव आधुनिक युग की देन है। इस काव्य म युग की वाह्य चेतना अन्तर्मुखी होकर सौन्दर्य के प्रति अधिक सजग हो गई है। प्रारम्भ में कविवर जयशकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी काव्य-धारा को उन्नयन प्रदान किया। उनके उपरान्त महादेवी जी ने छायावाद को एक विशेष भाव-समृद्धि और गीत सौष्ठव से विभूषित किया। उनके काव्य में छायावाद की विभिन्न भावगत और कलागत विशेषताओं का सुन्दर समावेश हुआ है। वह छायावाद को एक ओर तो प्रकृति के अन्तराल में जीवन का उद्गीथ मानती हैं और दूसरी ओर उसे करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद कहती हैं।

महादेवी जी ने 'आधुनिक कवि' (प्रथम भाग) की भूमिका में छायावाद के विषय में अपनी मान्यताओं को सुन्दरतम अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस प्रकार वह

केवल छायावादी कवयित्री ही न हो कर छायावादी काव्य-सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाली आचार्या भी हैं। जिस व्यक्ति का किसी विशिष्ट काव्य-धारा के प्रति कोई विशेष दृष्टिकोण हो उसके तत्सम्बन्धी काव्य का परीक्षण भी उसी दृष्टिकोण के अनुसार करना चाहिए। महादेवी जी ने छायावाद के उद्भव, उसके तत्वों और उसके पराभव के कारणों पर व्यापक प्रकाश डाला है। अतः उनके काव्य की छायावादिता का भी इन विचारों के आधार पर ही परीक्षण करना चाहिए। ऐसा होने पर कवयित्री के अन्तर्साक्ष्य से पुष्ट होने के कारण आलोचना का स्तर अधिक स्वाभाविक रह सकेगा।

महादेवी जी ने छायावाद को स्थूल तत्वों के प्रति मानव-मन की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं का वर्णन करने वाला कहा है। साधारणतः हिन्दी-काव्य का कोई भी अध्येता छायावाद के विषय में यही धारणा रखता है, किन्तु महादेवी जी ने छायावाद में स्थूलता का पूर्ण विलोप नहीं माना है। उनके अनुसार छायावाद की सूक्ष्मता कवि को सूक्ष्म रीति से जीवन के यथार्थ का मूल्यांकन करने की प्रेरणा और क्षमता प्रदान करती है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित विचार देखिए :—

'छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका; परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।"

—(आधुनिक कवि १, भूमिका, पृष्ठ २०)

महादेवी जी जीवन से पलायन की वृत्ति को एकमात्र छायावाद की देन नहीं मानतीं। सामान्यतः पलायन-वृत्ति को छायावाद की एक अंगभूत विशेषता माना जाता है, किन्तु उन्होंने इस विषय में अनेक दृष्टान्त देते हुए पलायन-वृत्ति को साहित्य के लिए सहज-स्वाभाविक और परम्परागत माना है। छायावाद के पराभव के कारणों में वह उसकी दुरूहता को मुख्य मानती हैं। सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना के अतिवादी स्वरूप, लाक्षणिक प्रतीकों की अतिशयता और जीवन के अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक चित्रण के कारण छायावाद अन्ततः पराभूत हो गया। महादेवी जी ने छायावाद के इन सभी दोषों को स्पष्टतः स्वीकार किया है। इस विषय में उनके वक्तव्यों में किसी प्रकार के पूर्वाग्रह का परिचय नहीं मिलता। छायावाद की प्रतिक्रिया में रचित प्रगतिवादी साहित्य को भी वह जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं मानतीं। इस विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं —

"छायावाद के कवि को एक नए सौन्दर्य-लोक में ही वह भावात्म दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है, परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता देखना चाहेंगे तो हम भी असफल हो रहेंगे।'

—(आधुनिक कवि १, भूमिका, पृष्ठ २८

उपर्युक्त अध्ययन से महादेवी जी के छायावाद-विषयक विचारों का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। आगे हम उनके काव्य में प्राप्त होने वाली छायावाद की भावना और कला विषयक विविध विशेषताओं का क्रमश विश्लेषण उपस्थित करेंगे।

१. वैयक्तिकता

प्राय कवि अपनी रचनाओं में अपने व्यक्तित्व का प्रतिफलन उपस्थित किया करते हैं और गीति-काव्य में इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक अवकाश रहता है। यह आत्माभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रच्छन्न, दोनों ही रूपों में सम्भव है। छायावादी काव्य में इसे स्पष्ट आधार पर उपस्थित किया गया है। वस्तुत छायावाद मूल रूप से कवि की उन प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति है जो ससार की स्थूल क्रिया-वृत्तियों के सम्पर्क में आने पर उसके मन में सचारित होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य म कवि ससार के विषय में अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों को वाणी प्रदान करता है। अनुभूति-कथन से हमारा तात्पर्य स्पष्टत काव्य में वैयक्तिकता के समावेश से है। इस तत्व की उपस्थिति से काव्य म एक विशिष्ट निजीपन का समावेश हो जाता है। स्थूलता से युक्त होने पर आत्माभिव्यक्ति गर्हित हो सकती है, किन्तु सूक्ष्मता से प्रेरित होने पर वह पाठक को सक्षम प्रेरणा ही प्रदान करती है।

छायावादी काव्य सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति को अधिक अवसर प्रदान करता है और विभिन्न कवियों ने इस व्यक्तिगत चेतना का विभिन्न रूपों में सयोजन किया है। महादेवी जी ने अपने काव्य में वैयक्तिकता का समावेश आध्यात्मिकता की आधार-भूमि पर किया है। उन्होंने अपनी व्यक्तिवादी कविताओं में उल्लास, उत्साह, स्वाभिमान और विरह-वेदना का समावेश किया है। इनमें से वेदना की अनुभूति ही उनकी वैयक्तिकता से विशेषत सम्बद्ध है। इस वेदनाप्रियता की दृष्टि से उनके निम्नलिखित कथन देखिए —

मेरे छोटे जीवन मे
देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी. आँखे
भरती आँसू के सागर !

६—कल्पनाप्रियता

कल्पना की ओर कवि का सदैव से विशिष्ट आकर्षण रहा है। उसके आधार पर वह काव्य को चिरकाल से नवीन शोभा प्रदान करता आया है। छायावादी कवियो ने कल्पना के माध्यम से सूक्ष्मता के ग्रहण को अधिक सरल मान कर अपनी रचनाओ मे उसे मुख्य स्थान प्रदान किया। इस काव्य-धारा से पूर्व काव्य में शोभा-सृष्टि के लिए कल्पना का सामान्य रूप में समावेश किया जाता था, किन्तु छायावाद के अन्तर्गत कवि ने अपनी चेतना को इस ओर विशेष केन्द्रित किया। छायावादी कवियो ने प्राय. कल्पना का दो रूपो में उपयोग किया है। एक ओर तो वे स्थूल तत्वो को अपनी रम्य कल्पना द्वारा नितान्त सूक्ष्म और अशरीरी अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं और दूसरी ओर सूक्ष्म तत्वों को कल्पना के माध्यम से और भी अधिक सूक्ष्म बना देते हैं। इसके लिए उन्होंने नवीन उपमानो और प्रतीकों का स्पष्ट आश्रय लिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में सूक्ष्म कल्पना-वैभव की स्थिति को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। महादेवी जी ने भी अपनी कविताओं में कल्पना के आधार पर अनेक आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं और उनकी कल्पनाएँ प्रायः मनमोहक बन पड़ी है। इन कल्पनाओ का सम्बन्ध अधिकतर प्रकृति से रहा है और उन्होने कही-कही असमान कल्पनाओ के होने पर भी प्राय. कल्पना के गतिबद्ध चित्र उपस्थित किये हैं। जीवन और जगत् के विषय में उनकी निम्नलिखित कल्पना इस दृष्टि से विशेष द्रष्टव्य है :—

है अन्तहीन लय यह जग,
पल पल है मधुमय कम्पन।
तुम इसकी स्वर लहरी में,
धोना अपने श्रम के कण ॥[1]

७—प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावादी कविताओं में प्रकृति-सौन्दर्य की सजग अभिव्यक्ति रहती है और कवि प्राय. प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उस पर चेतना का आरोप करते है। महादेवी जी ने अपने काव्य में प्रकृति के सचेतन रूप को स्वस्थ अभि-

व्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसके अनेक सुन्दर भाव-चित्र उपस्थित किये हैं और कहीं-कहीं अपनी वियोग-भावना को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके प्रकृति-चित्रों में यत्र-तत्र ऊहात्मकता भी लक्षित होती है, किन्तु छायावाद की भावात्मकता से युक्त होने के कारण यह ऊहा रीतिकाल की प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त रही है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्य-चित्रों को उपस्थित करते समय अनेक स्थानों पर अपनी मौलिकता का श्रेष्ठ परिचय दिया है। प्रकृति का मानव-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति उनके काव्य में सर्वप्रमुख रही है। उन्होंने छायावादी भावनाओं का आधार ग्रहण करते हुए अपनी कविताओं में एक ओर तो मानवीय क्रियाओं को प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते हुए देखा है, दूसरी ओर प्रकृति में विराट् की छाया के दर्शन किये हैं और तीसरी ओर उसमें अपनी व्यक्तिगत सत्ता को छाया के रूप में समाविष्ट देखा है। निम्नलिखित पद में अपने जीवन को सान्ध्य-प्रकृति-रूप कहकर उन्होंने इसी तृतीय प्रवृत्ति का परिचय दिया है :—

> प्रिय! सान्ध्य गगन, मेरा जीवन!
> यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
> नव अरुण अरुण मेरा सुहाग।
> छाया सी काया वीतराग,
> सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन॥
>
> —(आधुनिक कवि १, गीत संख्या ४६)

उपर्युक्त अध्ययन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी जी के काव्य में छायावादी सिद्धान्तों के अनुकूल प्रकृति-चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश रहा है। छायावाद के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करते समय उन्होंने स्थान-स्थान पर उसमें प्रकृति-चित्रण के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार छायावाद में प्रकृति का मानव-जीवन से गहन सम्बन्ध स्थापित रहता है और ये दोनों एक-दूसरे को व्यापक प्रेरणा प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित विचार देखिए —

"छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही एक विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के

लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण-परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।"

—(महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ८७)

विषाद-भावना

छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं में करुणा, वेदना और विषाद का व्यापक चित्रण किया है। यद्यपि इस काव्य-धारा से पूर्व भी इन भावों को प्रसगानुसार सक्षिप्त अभिव्यक्ति प्राप्त होती थी, किन्तु सासारिक व्यवहार को विषादमयी अभिव्यक्ति प्रदान करने का कार्य सर्वप्रथम छायावाद ने ही व्यापक आधार पर किया। महादेवी जी ने अपनी कविताओं में विषाद भावना को मुख्य स्थान प्रदान किया है। यह विषाद उनके व्यक्तित्व में इतना घुल-मिल गया है कि वह विषादहीन जीवन की कल्पना ही नहीं कर पातीं। उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में इसी विषाद-भाव का चरम रूप उपलब्ध होता है —

ऐसा तेरा लोक,, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद।

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !

—(आधुनिक कवि १, गीत-सख्या १४)

छायावादी काव्य में माधुर्य भाव से युक्त विषाद का चित्रण अपेक्षित रहता है। महादेवी जी ने छायावाद की वेदना और करुणा से युक्त इस दुःखवादी प्रवृत्ति का व्यापक चित्रण किया है। उनकी विरहिणी आत्मा निरन्तर तीव्र वेदना से युक्त रही है और उन्होंने उसे अपने प्राणों में इतना अधिक भर लिया है कि वेदना उनके जीवन की अभिन्न अग बन गई है। इसी भावना के कारण उन्होंने महामिलन की स्थिति में भी तृप्ति की आकाक्षा नहीं रखी है और मिलन-सुख में भी विरह-वेदना की उत्साहपूर्वक प्राप्ति चाही है। यथा,—

आवे बन मधुर मिलन-क्षण
पीड़ा की मधुर कसक सा।
हँस उठे विरह ओठों में—
प्राणों में एक पुलक-सा।

रहस्यात्मकता

महादेवी जी के अनुसार विश्व की अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना छायावाद का दूसरा सोपान बना, *जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही 'रहस्यवाद' नाम दिया गया।* वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति छायावाद और रहस्यवाद को पर्यायवाची शब्द मानती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अपनी छायावादी उक्तियों में रहस्यात्मकता का समावेश उनको इष्ट रहा है।

छायावाद और रहस्यवाद का यह सम्मिश्रित रूप कविवर जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा और *डा० रामकुमार वर्मा* की *काव्य-कृतियों* में उपलब्ध होता है। इनमें से भी अन्तिम दो की इस क्षेत्र में अधिक रुचि रही है। महादेवी जी की कविताओं में छायावाद और रहस्यवाद सम आधार पर स्थित रहे हैं। अतः उनकी छायावाद-प्रधान कविताओं में रहस्यवाद की तथा रहस्यवादी रचनाओं में छायावाद की अनायास ही समष्टि हो गई है। उदाहरणार्थ *उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए* —

घर लौट चले सुख-दुःख-विहग,
तम पोंछ रहा मेरा अग जग,
छिप आज चला वह चित्रित मग,
उतरो अब पलकों में पाहुन!

—(आधुनिक कवि १, गीत-संख्या ४६)

उपर्युक्त उद्धरण में छायावाद की अरूप को रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु उसके अंचल में कवयित्री की रहस्यवादी अन्त साधना की पद्धति भी सहज-ग्रथित रही है। इसी प्रकार उनकी कुछ अन्य कविताओं में भी हमें इन दोनों काव्य सिद्धान्तों का सम्मिश्रण और सहज विकास उपलब्ध होता है।

शैलीगत विशेषताएँ

महादेवी जी ने अपने काव्य में छायावाद की विभिन्न शैलीगत विशेषताओं का भी सफल प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उन्होंने उसे जो गीत-सौष्ठव

प्रदान किया है, वह विशेषतः उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतीक-पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हुए अनेक सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग भी उपस्थित किये हैं। मानवीकरण की प्रवृत्ति और चित्र शैली की योजना द्वारा भी उन्होंने अपने काव्य को छायावादी कला का सौष्ठव प्रदान किया है। उन्होंने चिर-प्रचलित स्थूल उपमानों के स्थान पर सूक्ष्म और मौलिक उपमानों का प्रयोग कर छायावाद के अलंकारिक सौन्दर्य को अत्यन्त कुशलता के साथ स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

विधु की चाँदी की प्याली
मादक मकरन्द भरी-सी।
जिसमें उजियाली रातें
लुटती घुलती मिसरी-सी॥

काव्य-रचना के अवसर पर कवि भावों को मुख्य स्थान देने पर भी कला-तत्वों का बहिष्कार नहीं कर सकता। छायावादी काव्य का अध्ययन करने पर भी हम इस कथन को समान रूप से सत्य पाते हैं। वस्तुतः छायावाद में मूर्त को अमूर्त तथा अमूर्त को मूर्त के रूप में चित्रित करने की जिस प्रणाली को भाव क्षेत्र में मुख्य स्थान प्रदान किया गया है वह कला-तत्वों के सहयोग के अभाव में सफल नहीं हो सकती थी। सूक्ष्म भावों को उपस्थित करने के लिए तदनुकूल कोमल भाषा, लाक्षणिक प्रतीकों तथा मौलिक चित्र-विचित्र उपमानों की सृष्टि करनी भी आवश्यक थी। अतः छायावादी कवियों ने इस ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया। इस विषय में महादेवी जी के विचार इस प्रकार हैं:—

"छायावाद ने नए छन्द बन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तौल और काँट-छाँट कर तथा कुछ नए गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया।"

—(आधुनिक कवि १, भूमिका, पृष्ठ १५-१६)

विश्लेषण

उपर्युक्त अध्ययन से छायावाद के स्वरूप और महादेवी जी के काव्य में उसके विकास की विभिन्न स्थितियों का पर्याप्त परिचय उपलब्ध हो जाता है। वह छायावादी कवयित्रियों में सर्वप्रमुख स्थान रखती हैं और छायावाद के प्रवर्तन में योग प्रदान करने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। जिस प्रकार कविवर

जयशंकर 'प्रसाद' और श्री सुमित्रानंदन पंत ने छायावाद के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण करने के लिए उसके स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला है उसी प्रकार महादेवी जी ने भी छायावाद का सैद्धान्तिक विवेचन उपस्थित करने के अतिरिक्त तत्कालीन छायावादी काव्य की विशेषताओं पर भी उपयुक्त प्रकाश डाला है। उन्होंने अपनी कविताओं में छायावाद के भाव-पक्ष और कला-पक्ष में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके छायावादी काव्य में कहीं-कहीं कुछ अनियमितताओं का भी समावेश हो गया है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने अपने काव्य को छायावाद की सौन्दर्य-चेतना से मण्डित करने का प्रत्येक सम्भव प्रयास किया है।

महादेवी जी का रहस्यवादी काव्य

भारतवर्ष की सांस्कृतिक प्रगति का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि इस देश में अध्यात्मवादी विचार-धारा के स्पष्टीकरण को प्रारम्भ से ही मूलवर्ती स्थान प्राप्त रहा है। यहाँ समय समय पर भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं का जन्म होता रहा है और साहित्य में भी उन्हें यथास्थान अभिव्यक्ति प्रदान की जाती रही है। अध्यात्म-चिंतन की इन विविध धाराओं में रहस्यवाद का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त को हिंदी-काव्य में प्रारम्भ से ही ग्रहण किया जाता रहा है। यही कारण है कि युग-परिवर्तन के साथ-साथ इसके स्वरूप में भी हमें यत्किंचित् परिवर्तन उपलब्ध होते हैं। भक्ति काल की समाप्ति तक हिन्दी में पर्याप्त रहस्यवादी काव्य की रचना की जा चुकी थी। इसके उपरात आधुनिक काल में श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुश्री महादेवी वर्मा तथा श्री रामकुमार वर्मा ने हिंदी में रहस्यवादी काव्य की रचना-परम्परा को पुन सजीव किया। इस क्षेत्र में इन चारों व्यक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध में हम महादेवी जी के रहस्यवादी काव्य की आलोचना उपस्थित करेंगे।

रहस्यवाद का स्वरूप

महादेवी जी के काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियों का अन्वेषण करने से पूर्व यह अधिक अच्छा होगा कि हम रहस्यवाद के स्वरूप को हृदयगम कर लें। रहस्यवाद में, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, रहस्य को आधारभूत तत्व के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसका सम्बन्ध केवल गुह्य अध्यात्म विद्या से रहता है और यह व्यक्ति को भौतिकता से विरत होने का संदेश प्रदान करता है। रहस्यवाद स्पष्ट रूप से एकान्तिक साधना का विषय है और इसमें परोक्ष अथवा अव्यक्त परमात्म-शक्ति के साथ आत्मा के रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। अत: यह स्पष्ट है कि इसमें व्यक्ति के आत्म-विकास का क्रमिक

अध्ययन किया जाता है। इस विषय में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर हम रहस्यवाद में विस्मय, जिज्ञासा, साधना और प्रेम की विशिष्ट अनुभूति नामक चार तत्वों की स्थिति पाते हैं। जब साधक ईश्वर के प्रति अपनी मौन साधना में सफलता प्राप्त कर लेता है तब उसे जिस प्रकार की प्रेमानुभूति होती है वह अपनी चरम स्थिति पर पहुंचने के अनन्तर केवल रति-भाव (प्रेम) के रूप में अवशिष्ट रह जाती है।

रहस्यवादी साधक के उपर्युक्त भाव-विकास को कुछ अधिक विस्तार के साथ समझ लेना उपयुक्त होगा। वस्तुतः साधक के हृदय में सर्वप्रथम सृष्टिक विभिन्नताओं को देख कर विस्मय का आविर्भाव होता है और इसके उपरान्त वह पार्थिव का परित्याग कर अपार्थिव की ओर अग्रसर होने की आकांक्षा का अनुभव करने लगता है। इसके पश्चात् वह साधना के बल पर *अनन्त शक्ति (ईश्वर) से रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करता है* और अन्त में उसे पूर्ण ऐक्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है। दो व्यक्तियों की ईश्वरीय अनुभूति में माध्यम के अन्तर के कारण भिन्नता हो सकती है। इस स्वरूप-भेद के कारण रहस्यवाद के निम्नलिखित दो रूप उपलब्ध होते हैं:—

साधनात्मक रहस्यवाद

इस रहस्यवादी प्रणाली के अंतर्गत ईश्वरीय रहस्य को प्राप्त करने के लिए ज्ञान-साधना तथा योग-साधना का आश्रय लिया जाता है। वर्तमान युग में इस पद्धति को काव्य में आश्रय नहीं दिया गया है और इस दिशा में जिन कवियों ने किंचित् प्रयास भी किए हैं, वे भी साधारण हैं और उनका काव्य-समृद्धि की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। रहस्यवाद के इस प्रकार के ज्ञान-साधना-सम्बन्धी पक्ष का मुख्य रूप से महात्मा कबीर और उनके अनुयायी कवियों के काव्य में विकास हुआ है और इसके योग-साधना-विषयक पक्ष का सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदायों के कवियों के काव्य में सन्निवेश हुआ है।

भावात्मक रहस्यवाद

इस रहस्यवादी प्रणाली में ईश्वरीय रहस्य को प्राप्त करने के लिए ज्ञान-साधना के स्थान पर प्रेम भावना का आश्रय लेने का विधान रहता है। हृदय-वृत्ति से परिचालित होने के कारण इसका स्वरूप सामान्य व्यक्ति के लिए अधिक ग्रहणीय होता है और हिंदी-कविता में इसी का अधिक प्रचलन रहा है। आधुनिक युग में भी हमें भावात्मक रहस्यवाद का ही विकास उपलब्ध होता है। इसके निम्नलिखित दो भेद उपलब्ध होते हैं:—

(१) मधुर रहस्यवाद :—

इसके अंतर्गत आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करते समय कवि माधुर्य-भाव को विशेष स्थान प्रदान करते हैं। इसमें माधुर्य की सृष्टि करने वाले प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर-विषयक प्रेम को सहज रूप से विकसित होते हुए दिखाया जाता है। साधनात्मक रहस्यवाद की तुलना में इस प्रेम की परिणति भी अधिक मधुर होती है और साधारणीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से अध्येता उसे ग्रहण करने में अधिक सुविधा का अनुभव करता है।

(२) प्राकृत रहस्यवाद :—

इसके अनुसार प्रकृति के व्यक्त रूप का भौतिक रीति से अध्ययन करते हुए कवि प्राकृतिक जगत् पर एक विशिष्ट चेतना का आरोप करता है और अन्तत. प्रकृति की क्रियाओं को ईश्वरीय शक्ति से परिचालित होते हुए देखने लगता है। इसमें प्रकृति-दर्शन को ईश्वर-प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है। महादेवी जी के काव्य में इसी कोटि के रहस्यवाद का समावेश हुआ है।

आधुनिक युग मे विद्वानो ने रहस्यवाद के स्वरूप का व्यापक अध्ययन और विश्लेषण उपस्थित किया है। इस दृष्टि से हिन्दी-कवियो मे से सर्व श्री जयशंकर 'प्रसाद', महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद के विषय में अपने विचारो को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। इस क्षेत्र में कविवर रामकुमार वर्मा ने सर्वाधिक कार्य किया है। महादेवी जी ने भी रहस्यवाद की भौतिक व्याख्या उपस्थित की है। वह रहस्यवाद को उसके परम्परागत रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही है। इसका कारण छायावाद और रहस्यवाद को सम आधार पर उपस्थित करने का प्रयास है। वस्तुत महादेवी जी छायावाद-युग की कवयित्री हैं और उनके काव्य में छायावाद के पार्श्व में अनेक स्थलो पर रहस्यवाद का भी सुन्दर समावेश हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हुए छायावाद को उसकी शैली-विशेष कहा है। इस दृष्टि से महादेवी जी की छायावादिता में रहस्यात्मकता के दर्शन करते हुए उन्होने एक स्थान पर स्पष्ट कहा है —

"छायावादी कहे जाने वाले कवियो मे महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही है . . . अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूट कर झलक मारती रहती है।"

महादेवी जी के काव्य में रहस्यवादी तत्वों का अन्वेषण करने से पूर्व उनके रहस्यवाद-विषयक विचारों को समझ लेना आवश्यक है। वह छायावाद को रहस्यवाद से सहज-सम्बद्ध मानती हैं। यह उनकी रहस्यवाद विषयक नवीन दृष्टि का परिचायक है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में छायावाद और रहस्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध की आधार-भूमि को देखिए :—

"× × × इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"

—(सान्ध्य गीत, अपनी बात, पृष्ठ ६)

महादेवी जी ने वर्तमान युग में साधनात्मक रहस्यवाद की उपयोगिता को स्पष्ट स्वीकार किया है। वह रहस्यवाद में रागात्मकता की स्थिति को अनिवार्य मानती हैं। इस विषय में उनकी विचार-धारा गहन अध्ययन पर आधृत रही है। उन्होंने अपने से पूर्व के रहस्यवादी काव्य का उचित विश्लेषण करते हुए तुलनात्मक रीति के माध्यम से उसके प्राचीन स्वरूप में परिवर्तन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने वर्तमान युग के रहस्यवादी काव्य को परम्परा-प्रेरित होने पर भी अधिकांशतः मौलिकता से सम्पन्न माना है। इस मौलिकता के मूल में उन्होंने विशिष्ट रागात्मकता और गीति-काव्य की नवीन रचना प्रणालियों को अवस्थित माना है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित सैद्धान्तिक वक्तव्य देखिए :—

(अ) "रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीन काल के दर्शन में इसका अंकुर मिलता अवश्य है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ!"

—(सान्ध्य गीत, अपनी बात, पृष्ठ ६)

(ब) "आज गीत में हम जिसे नए रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इस सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी इन सब से भिन्न है।"

—(वही कृति, पृष्ठ ६)

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि महादेवी जी ने रहस्यवाद के विषय में नवीन विचार उपस्थित करते हुए वर्तमान युग की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल उसके स्वरूप में भी परिवर्तन उपस्थित करने पर बल दिया है। यह एक नितान्त स्वस्थ काव्य-प्रवृत्ति है और महादेवी जी के काव्य को रहस्यवाद की प्राचीन कसौटियों पर कसते हुए यदि उनकी इस प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हुए उनके

काव्य में दोष-दर्शन किया जायेगा तो उसे हम आलोचक की असहृदयता ही कहेंगे। प्रस्तुत निबन्ध में उनकी रहस्यवादी विचार-धारा की समीक्षा करते समय हम उनके मौलिक मन्तव्यों को निरन्तर दृष्टिपथ में रखेंगे।

महादेवी जी का रहस्यवाद

मौलिक काव्य-दृष्टि रखते हुये भी महादेवी जी ने अपने काव्य में रहस्यवाद के प्राचीन स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं किया है। उनके काव्य में रहस्यवाद की विस्मय, जिज्ञासा, अनुभूति और विरह आदि विभिन्न अवस्थाओं का उचित समावेश हुआ है। इस दृष्टि से उन्होंने जीव को परमात्मा के विरह में जन्म से ही व्याकुल दिखाया है। सृष्टि के सौन्दर्य के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने की उन्हें उत्कट अभिलाषा है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिये :—

> कनक से दिन, मोती-सी रात,
> सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
> मिटाता रँगता बारम्बार,
> कौन जग का वह चित्राधार ?

रहस्यवादी विचार-धारा को गहन अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये उसमें अनुभूति की व्यापक स्थिति का होना नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से महादेवी जी के काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें कुछ स्थलों पर तो प्रेम की अनुभूति का मार्मिक चित्रण हुआ है और कहीं अनुभूति शिथिल हो कर रह गई है। ऐसे स्थलों पर अनुमान और अनिश्चितता की स्थिति रही है। यथा :—

> मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश।
> मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित विलास॥

रहस्यवाद में विरह-वेदना की व्यापक स्थिति रहती है और इस दृष्टि से महादेवी जी के काव्य में उसका पर्याप्त विकास प्राप्त होता है। उन्होंने इस वेदना के समक्ष ईश-मिलन के अमर आनन्द की प्राप्ति को भी तुच्छ माना है। उन्होंने विरहिणी आत्मा को अनेक आशा-आकांक्षाओं से युक्त दिखाया है। कभी वह प्रिय-मिलन के सुख को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करती है, कभी अपने अस्तित्व को सर्वथा विलीन कर ईश्वर से तदाकार हो जाना चाहती है और कभी अनन्त समय तक विरह-व्यथा में लीन रहना चाहती है। इसी प्रकार

उन्होंने विरहावस्था में निजी गौरव की व्यंजना उपस्थित करते हुये भी सर्वथा मौलिक भाव प्रदर्शित किये हैं। यथा :—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जाएगा तेरा ही,
पीड़ा का राज्य अंधेरा ॥

महादेवी जी ने अपने रहस्यवादी काव्य में प्रभु-मिलन के लिये उद्वेग तथा विकलता का सुन्दर परिचय दिया है। वास्तव में उन्होंने प्राचीन रहस्यवादियों की भाँति एक ओर तो ईश-मिलन के लिये आत्मा के उद्वेग का चित्रण किया है और दूसरी ओर वर्तमान युग के छायावाद-प्रभावित रहस्यवादी कवियों की भाँति निराशा की मनोवृत्ति का परिचय देते हुये ईश्वर के चरणों में प्राण-विसर्जन करने की कामना भी व्यक्त की है। साधारण दृष्टि से यह स्थिति अस्थिरता की द्योतक प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। इससे महादेवी जी के चिन्तन की गहनता की सूचना ही प्राप्त होती है। छायावादी कवयित्री होने के कारण अपने रहस्यवादी काव्य में उससे पूर्णत: अस्पृष्ट रह सकना उनके लिये व्यावहारिकता की दृष्टि से असम्भव ही था। ऐसी स्थिति में रहस्यवाद में छायावाद की निराशा और पलायन-वृत्ति का ज्यों का त्यों समावेश कर देना कदापि शोभनीय नहीं होता। अत: उन्होंने इस निराशा को ईश्वर के चरणों में प्राण विसर्जित करने की कामना का रूप प्रदान कर निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य किया है। इसी प्रकार उनके काव्य में प्राचीन रहस्यवादी सिद्धांतों में नवीन जीवन दृष्टि का समन्वय करने की चेष्टा अन्यत्र भी प्राप्त होती है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के मिलन की विविध स्थितियों पर अनेक कविताओं में प्रकाश डाला है। यह स्थिति-विभिन्नता मूलत: उनके आत्म-विकास की सूचना देती है और इसके आधार पर हम उनके रहस्यवादी काव्य के विषय में एक निश्चित मत की स्थापना कर सकते हैं। उन्होंने ईश्वरीय मिलन की क्षणिकता पर भी विलाप किया है और इस प्रकार के मिलन को आत्मा को चिर-व्याकुल बनाने वाला माना है। किसी-किसी स्थान पर जायसी की भाँति, मिलन से पूर्व साधक में सजगता के अभाव का वर्णन करते हुये उन्होंने उसे मिलन से वंचित होते हुये भी दिखाया है। यथा :—

मिलन वेला में अलस, तू सो गई कुछ जाग कर जब।
फिर गया वह स्वप्न में, मुस्कान अपनी आँक कर तब ॥

महादेवी जी ने अपने रहस्यवादी काव्य में प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुये प्राकृतिक छवि को चेतना की प्रेरक के रूप में अंकित करने के स्थान पर रहस्यवाद के अनुकूल उसे स्वत चेतनामयी बना दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति के व्यक्त सौन्दर्य का समावेश हुआ है तथापि यह प्रवृत्ति निरन्तर क्षीण होती गई है। उन्होंने प्रकृति के स्पष्ट सौन्दर्य-प्रतीकों के स्थान पर उनकी अस्पष्ट गतियों अथवा छायाओं का चित्रण किया है और इसी कारण उनकी विरह-वेदना विवृत होकर रहस्यात्मक तथा दुरूह हो गई है।

महादेवी जी ने ईश्वरीय प्रेम में लीन होने पर इतर सासारिक कार्यों का विस्मरण कर महामिलन की इच्छा को व्यक्त किया है। उन्होंने अपने काव्य में मधुर भाव से युक्त रहस्यवाद का चित्रण करते हुये उसकी अभिव्यक्ति के लिये प्रतीक शैली का व्यापक प्रयोग किया है। उन्होंने जायसी की सर्वात्मवाद-सम्बन्धी भावना के अनुसार ईश्वर की सर्वव्यापकता स्वीकार करते हुये सर्व-वादमूलक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है। यथा :—

सभी में है स्वर्गीय विकास।
वही कोमल कमनीय प्रकाश ॥

इसी प्रकार उन्होंने महात्मा कबीर की भाँति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति के रूप में उपस्थित किया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने सहज प्रेम-वृत्ति की स्थापना के साथ-साथ मान-भावना का भी समावेश किया है। यथा —

सजनि, मधुर निजत्व दे,
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं ?

महादेवी जी के रहस्यवाद में आध्यात्मिक साधना का अभाव है और उसका स्वरूप केवल भावनात्मक है। उसमें विश्वास और प्रत्यक्ष प्रणय निवेदन की स्थिति अधिक नहीं है और उसके स्थान पर बुद्धि-पक्ष और प्रेम की कल्पना का प्राधान्य है। यही कारण है कि मध्य युग में जहाँ मीरा ने कृष्ण को जीवन्त सत्य माना है वहाँ महादेवी ब्रह्म को उतना सप्राण नहीं मान सकी हैं।

: १६ :

कवि 'बच्चन' के काव्य-सिद्धान्त

'मधुबाला', 'मधुशाला' और 'मधु-कलश' के अमर प्रणेता श्रीयुत हरिवंशराय 'बच्चन' हिन्दी में व्यक्तिपरक कविताओं के प्रमुख रचयिता हैं। उन्हें अपने जीवन में प्रायः संघर्षों का अनुभव करना पड़ा है और यही कारण है कि उन्होंने अपने मानसिक क्लेश का विस्मरण करने के लिये आध्यात्मिक जगत् का परित्याग कर भौतिक मद से विह्वल कर देने की क्षमता से युक्त भाव-धारा का आश्रय ग्रहण किया है। उनकी कविताओं में यौवन की सहज अनुभूति एवं कल्पना को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु यह कल्पना कहीं भी उनके काव्य की मूल प्रेरिका शक्ति नहीं बन पाई है। इसी प्रकार चिंतन को भी उन्होंने वहीं गम्भीर रूप में स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में आलोचक-प्रवर डॉ० नगेन्द्र के 'आधुनिक हिंदी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' नामक ग्रंथ की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

"बच्चन चिंतन की सूक्ष्मताओं, कल्पना की ललित क्रीड़ाओं तथा आधुनिक बौद्धिक धारणाओं द्वारा अपनी वैयक्तिक अनुभूति का भाजन नहीं करते। वे जीवन के सर्वमान्य मौलिक तथा मूर्त सत्यों के द्वारा जीवनगत सरल कल्पना की सहायता से ही व्यक्ति की अनुभूति का साधारणीकरण करते हैं। इसके लिये वे या तो सरल प्राकृतिक सत्यों को ग्रहण करते हैं या जीवन की विशद घटनाओं को।"

नीति की सद्वृत्ति से पूर्ण भावनाओं को 'बच्चन' ने परम्परागत रूढ़ियों के रूप में स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि इस प्रकार की धारणाएँ जीवन की स्वस्थ प्रगति में बाधक सिद्ध होती हैं, तथापि नियतिवाद के सिद्धान्त के प्रति उनकी पर्याप्त आस्था है। 'सतरंगिनी', 'मिलन-यामिनी', 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में उनके विभिन्न गेय पदों का भी अत्यंत सुन्दर सृजन हुआ है। गांधी जी के निर्वाण के अनन्तर उन्होंने उनके प्रति श्रद्धांजलि

समर्पित करते हुये भी अनेक कविताओं की रचना की है, किन्तु रुचि-पार्थक्य के कारण वह उसमें अधिक सफल नहीं हुये हैं। उनके काव्य में बौद्धिक सत्य की अपेक्षा कल्पनामूलक स्वप्नों को ही अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। यथा :—

कौन कहता है कि स्वप्नों
को न आने दे हृदय में,
देखते सब हैं इन्हें
अपनी उमर, अपने समय में।
मैंने खेल किया जीवन से !
सत्य भवन में मेरे आया,
पर मैं उसको देख न पाया,
दूर न कर पाया मैं, साथी,
सपनों का उन्माद नयन से !

कविवर हरिवंशराय 'बच्चन' को हिन्दी में हालावादी काव्य-धारा के प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त है। उनसे पूर्व इस रचना-पद्धति को मूल रूप से फारसी-साहित्य में तथा अनूदित रूप में अंग्रेजी-साहित्य में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त था, किंतु हिन्दी-साहित्य में इसका पूर्णत अभाव था। कविवर 'बच्चन' ने अंग्रेजी के अध्यापक होने के नाते अंग्रेजी-साहित्य के माध्यम से इस धारा का परिचय प्राप्त किया और 'हालावाद' के नाम से इसे हिन्दी में अवतरित किया। इस धारा के प्रवर्तक और प्रमुख प्रचारक होने के कारण हिन्दी में इसके रचना-सिद्धातो को स्पष्ट करना भी स्पष्टत उनका ही कार्य था। यद्यपि यह सत्य है कि एक आलोचक के अनुरूप उन्होंने हिन्दी की हालावादी काव्य-धारा पर विस्तृत प्रकाश नही डाला है, तथापि अपनी कविताओं और काव्य भूमिकाओं में उन्होंने इस पर यत्र-तत्र प्रकाश अवश्य डाला है। इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि कविवर 'बच्चन' ने हालावादी बन्धन से मुक्त काव्य का भी सृजन किया है और फलत: उनकी रचनाओं में इतर काव्य-सिद्धात भी प्राप्त होते हैं।

हालावाद-सबधी सिद्धात

'बच्चन' ने अपने हालावादी काव्य की रचना रुबाई छन्द में की है और इसके स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार रुबाई एक चतुष्पदीय छन्द है। यथा :—

"रुबाई का शाब्दिक अर्थ है चौपाई, चौपदा या चतुष्पदी।"

—(मधुशाला, पृष्ठ २५)

वस्तुतः यह छन्द अपने आप में पूर्ण है और कविगण प्रायः एक ही छन्द में एक भाव को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'बच्चन' जी ने रुबाई के कलागत महत्व की अपेक्षा उसके भावगत महत्व पर अधिक प्रकाश डाला है और उसका मानव-जीवन से गहन सम्बन्ध स्थापित किया है। उनके अनुसार रुबाई में मानव-जीवन का सम्पूर्ण आख्यान निहित रहता है और कवि के इस प्रतिवेदन में वेदना-भाव की विशेष स्थिति रहती है। इस प्रकार उन्होंने रुबाइयों में सामान्यतः मनुष्य के जगत् की ओर आकर्षित होने, जगत् द्वारा मानव के प्रति उपेक्षामय व्यवहार और फलतः मानव की हृदय-वेदना और उसकी विभिन्न प्रतिक्रियाओं के उल्लेख का समर्थन किया है। दूसरी ओर उन्होंने रुबाई में संगीत का अनिवार्य अन्तर्भाव माना है। रुबाई छन्द से सम्बन्धित उनके इस सम्पूर्ण वक्तव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह छन्द कुछ विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए रूढ़ हो गया है। यथा .—

"× × × रुबाइयात मनुष्य की जीवन के प्रति आसक्ति और जीवन की मनुष्य के प्रति उपेक्षा का गीत है। × × × × यह गीत जीवन-मायाविनी के प्रति मानव का एकांतिक प्रणय-निवेदन है। × × × × रुबाइयात सुख का नहीं दुख का गीत है, संतोष का नहीं असन्तोष का गान है।

(खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ १३-१४)

रुबाई छन्द के स्वरूप और उसके सामान्य वर्ण्य विषय के अतिरिक्त कवि 'बच्चन' ने अत्यन्त भावुकता के साथ हालावादी कविता के उद्गम की परिस्थितियों का भी चित्रण किया है। इस दृष्टि से उन्होंने हालावादी कविता और उसके स्रष्टा कवि के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार कवि विश्व-प्रकृति के व्यापक प्रसार का गहनतम अध्ययन करता है और उसके सुखमय अथवा दुखमय रूप से सर्वाधिक परिचित रहता है। विश्व में व्याप्त विभिन्न अभावों के प्रभावस्वरूप कवि सहानुभूतिवश अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक भावुकता तथा सहृदयता का परिचय देता है और उस समय विभिन्न ईश्वरीय क्रियाओं, प्राकृतिक तत्वों तथा मानवीय भावों के प्रति उसका दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है अथवा वह सृष्टि में सभी ओर वेदना तथा अभाव के प्राधान्य को लक्षित कर हाला को एक पूरक तत्व के रूप में उपस्थित करता है और सभी वर्ण्य पदार्थों को प्रायः हालामय रूप में उपस्थित करता है। इस प्रकार 'बच्चन' ने हालावादी काव्य का उद्गम कवि के सहानुभूतिशील हृदय को माना है। इस विषय में उनका वक्तव्य इस प्रकार है .—

"कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है। उसकी हृदय-गोद में त्रकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयांगन गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है। उनके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरत गति से नृत्य किया करते हैं। इस कारण कवि के हृदय के गलने के साथ ही आज समस्त विश्व मादक हाला से परिप्लावित हो उठा है। जल और थल, गगन और पवन, सिंधु और वसुंधरा, स्वर्ग और नरक, जड़ और चेतन, निशा और दिवस, वन और उपवन, सर और सरिता, मिलन और विरह, प्रणय और संघर्ष, आशा और निराशा, जन्म और जीवन, काल और कर्म—सभी वस्तुएँ जिनका अस्तित्व इस विश्व में है, आज हाला-प्याला-मधुशालामय आभासित हो रही हैं।"

—(मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ ११—१२)

'बच्चन' ने हालावादी काव्य में कल्पना की स्थिति का व्यापक समर्थन किया है और एक रुबाई में रूपक के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि कवि-रूपी साकी का कविता-रूपी प्याला केवल कल्पना-रूपी हाला के योग से ही पूरित हो सकता है। उन्होंने इस काव्य-चषक को निरन्तर पूरित रहने वाला कहते हुए अध्येतागण को मदपान करने वालों की संज्ञा प्रदान की है और इस सम्पूर्ण क्रिया को पुस्तक-रूपी मधुशाला में घटित होते हुए दिखाया है। तात्पर्य यह है कि वह हालावादी काव्य-ग्रन्थ में अध्येता-वर्ग की पूर्ण तुष्टि के लिए कल्पना के उपयुक्त मिश्रण पर विशेष बल देते हैं। यथा :—

खींच कल्पना की हाला, खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साकी आया, भर कर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिएँ, दो लाख पिएँ,
पाठकगण हैं पीने वाले, पुस्तक मेरी मधुशाला॥

—(मधुशाला, चतुर्थ रुबाई)

'बच्चन' द्वारा हालावाद के सम्बन्ध में प्रतिपादित किए गये उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हालावादी कविताओं की रचना रुबाई छन्द में की जाती है, उनमें कवि द्वारा सहानुभूतिमय रीति से संसार के अभाव-पीड़ित मानव की दुःख गाथा का चित्रण रहता है और इस अवसर पर मानव के परितोष के लिये कवि विश्व को हालामय चेतना प्रदान कर उसे अपनी मनोरम कल्पना के आधार पर अत्यन्त आकर्षक और प्रभावपूर्ण रूप

में उपस्थित करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदना की कल्पनागत हालाम अभिव्यक्ति हालावाद का मूल तत्व है।

इतर काव्य-सिद्धान्त

कवि और कवि-कर्म

'बच्चन' ने खादी के फूल', 'आकुल अतर' और पन्त जी की 'पल्लविनी की भूमिका में कवि तथा कवि-कर्म पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होने कवि के लिये अनुभूति तत्व की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये सवेदनशीलता को उसके लिये आवश्यक गुण माना है। उन्होने कवि-कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कवि के लिये यह आवश्यक माना है कि वह अपने ज्ञान को मधुरतम रीति से प्रसारित करे और इस विधि से अन्तत. जन-जीवन की विकलता का अन्त करने का प्रयास करे। उन्होंने विश्व-व्याप्त समस्याओ का समाधान करने के लिए कवि को यह सन्देश प्रदान किया है कि वह अध्ययन और चिंतन के आधार पर जहाँ भूत काल और वर्तमान काल की परिस्थितियों का विश्लेषण उपस्थित करे वहाँ भविष्य को मगलपूर्ण बनाने के लिए कुछ निश्चित आदर्शों का भी विधान करे। इस विषय में उनका मन्तव्य इस प्रकार है :—

> वदित वीणा पर गा कर अपना ज्ञान-गान
> सुस्थिर कर दो भारतमाता के विकल प्राण,
> से करामलकवत् भूत, भविष्यत, वर्त्तमान,
> ओ कविर्मनीषो, करो विश्व का समाधान !
>
> —(खादी के फूल, पृष्ठ ३०)

'बच्चन' ने कवि को सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभा-सम्पन्न माना है। उनके अनुसार कवि अपनी विशिष्ट प्रतिभा के आधार पर ससार के सार-तत्व को कहीं अधिक त्वरित गति से हृदयङ्गम कर लेता है। वह सृष्टि के सत्य, शिव और सुन्दर तत्वो का परिचय प्राप्त कर संसार के मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करता है। कवि की इस महत्ता का कारण सामान्यत यही है कि उसके पास बाह्य चक्षुओ के अतिरिक्त विशिष्ट अन्तर्चक्षु भी होते हैं और इसका प्रतिपादन समय-समय पर अनेक कवियो ने किया है। इस विषय में 'बच्चन' के कथन में सामान्यत. अत्युक्ति का आभास होता है, किंतु वस्तु-स्थिति लगभग यही है। साधारणत अध्येता साहित्य के उच्चतर मूल्यो का स्वागत करते हुये जीवन में उसी के द्वारा प्रदत्त सदेशो से प्रेरणा ग्रहण करता है। यथा :—

जो सत्य, शिव, शुभ सुन्दर, सुचितर होता है
दुनिया रहती है उसके प्रति प्रधी प्रजान,
वह उसे देखती, उसके प्रति नतशिर होती
जब कोई कवि करता उसको आँख प्रदान।
—(खादी के फूल, पृष्ठ १५०)

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कविवर 'बच्चन' कवि-कर्म को जग-जीवन से सहज-सम्बद्ध मानते हैं। वर्तमान प्रगतिशील दृष्टिकोण के अनुसार यह उपयुक्त भी है। उन्होंने कवि की सहज-सवेदनशीलता पर प्रकाश डालते हुए उसे निरन्तर पर हित में उद्यत माना है। ससार के क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों से पृथक् रह कर वह सृष्टि में समरसता के प्रसार के लिये सदैव सहयोगशील दृष्टिकोण रखता है। यह सहानुभूति कवि-जीवन की एक प्रमुख अङ्ग बन जाती है और इसके कारण ही वह जीवन-सगीत को अभिव्यक्त करने वाली ऐसी कविता की रचना में सक्षम हो पाता है जो अपनी सहज मधुरता और विशिष्ट अनुभूति के कारण अनिवार्यत प्रेरणाप्रद बन जाती है। 'बच्चन' के इस विचार में भावुकता के साथ साथ एक विशेष सदेश भी अन्तर्निहित है और इससे कवि-जीवन के मनोरम आदर्श पर उपयुक्त प्रकाश पडता है। यथा —

(i) बरस रहा है जग पर सुख-दुख।
सब को अपना अपना, कवि को
सबका ही दुख, सबका ही सुख।
जग-जीवन के सुख-दुखो से,
भीग रहा है कवि का तन-मन।
—(आकुल अतर, पृष्ठ ९२)

(ii) तू अपना पूरा कलम डुबा,
लिख जीवन की ऐसी कविता
गा जीवन का ऐसा गायन,
गाए सँग में जग का कण-कण
—(आकुल अतर, पृष्ठ ९९)

'बच्चन' के अनुसार कवि के लिए काव्य-रचना करते समय युग-दर्शन अनिवार्य है अर्थात् वह साहित्य को समाज से सहज-सम्बद्ध मानते हुए कलाकार पर युग की विशिष्ट विचार-सरणियों तथा घटनाओं के प्रभाव का समर्थन करते हैं। यह युग प्रभाव कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त हो जाता है

और इसी के द्वारा किसी कवि की अनुभूति, चिंतन-शक्ति तथा कल्पना का परीक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि काव्य में अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन करते समय युग-दर्शन को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि का व्यक्तित्व ससार के सभी सामान्य मनुष्यों के व्यक्तित्वों से अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर तथा सूक्ष्म-दृष्टि सम्पन्न होता है और काव्य में उसका प्रतिफलन नितान्त अनिवार्य है। इस तत्व का समर्थन प्राय: सभी सफल कलाकारों ने किया है। यह व्यक्तित्वाभिव्यक्ति ही तुलसी के अनुसार स्वान्त:सुखाय काव्य-रचना है, क्योंकि आत्माभिव्यक्ति से शून्य काव्य में जीवन के स्पन्दन का स्पष्ट अभाव होता है। अत 'बच्चन' द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन सर्वथा उपयुक्त है :—

"युग, युग की घटनाओं, युग की विचार-धाराओं का जो प्रभाव कलाकृतियों पर पड़ता है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी एक महत्ता रखता है। सच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व में कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है। फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित करके ही कला पर प्रभाव दिखला सकता है।"

—(पल्लविनी, एक दृष्टिकोण, पृष्ठ ६)

कविता

(अ) काव्य के पक्ष :—

कविवर 'बच्चन' ने कविता के स्वरूप और उसके विभिन्न तत्वों पर विधिवत् प्रकाश न डालने पर भी उसके अनेक अङ्गों की संक्षिप्त चर्चा की है। उन्होंने कविता के 'विषय' और 'अभिव्यक्ति' नामक दो पक्ष निर्धारित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य के सृजन के लिए भावना और कला, दोनों का सयोग नितान्त अनिवार्य है। यद्यपि इस विषय में उन्होंने अपने मत को अत्यन्त संक्षिप्त और साधारण रीति से व्यक्त किया है, तथापि इससे हम यह निष्कर्ष अवश्य प्राप्त कर सकते हैं कि काव्य-सृजन और काव्य के अध्ययन के लिए प्रतिपाद्य विषय के अतिरिक्त भाव-प्रतिपादन की रीति की ओर भी सम्यक् ध्यान देना चाहिए —

प्रत्येक कवि के कथन में दो बातें होती हैं, एक 'जो' वह कहना चाहता है और दूसरी 'जैसे' वह कहना चाहता है, मोटे तौर पर विषय और विधि अथवा भाव और भाषा।

—(खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ ३५)

(च) काव्य-बोध :—

'बच्चन' ने काव्य के साधारण अर्थ को सहजगम्य मानते हुए उसके मूल अभिप्रेत को सर्वजनसुलभ नही माना है। उनके अनुसार अनुभूति पर आधृत होने के कारण कवि-भावना का उचित स्पष्टीकरण केवल उसी अध्येता के समक्ष हो पाता है जो स्वय भी लगभग उसी कोटि के लोकानुभव से युक्त हो। इसके अभाव में पाठक के समक्ष जो अर्थ स्पष्ट होता है उसमें शाब्दिक तात्पर्य की अवस्थिति तो होती है, किन्तु कविता के मूल भाव तक पाठक की गति नही हो पाती। अत यह स्पष्ट है कि काव्य बोध केवल प्रयत्न का विषय न हो कर प्रतिभा और लोकानुभूति पर भी आधारित है। इस विषय मे 'बच्चन' ने स्पष्ट ही साधारणीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कवि-भावना को हृदयङ्गम करने के लिए पाठक को कवि-प्रतिभा से पूर्णत साधारणीकृत होने का परामर्श दिया है। उनका प्रतिपादन यह है कि जब काव्य में शुष्क विचार-प्रतिपादन होता है तब बुद्धि और ज्ञान के आधार पर उसका अर्थ ज्ञात किया जा सकता है किन्तु भावनात्मक कविताओ के अर्थ-ज्ञान के लिए बुद्धि के स्थान पर हृदय-तत्व के सहयोग की आवश्यकता होती है। उनका यह विचार मौलिक होने के साथ-साथ पूर्णत सत्य है और काव्याध्ययन की विभिन्न समस्याओ में से एक पर प्रकाश डालते हुए भाव-प्रधान कविताओ की अध्ययन-विधि को स्पष्ट करता है। यथा —

"शब्दो के पर्दे को उठा कर कवि की भावनाओ को हृदयगम करना कठिन काम है। साधारण ज्ञान और बुद्धि रखने वाला मनुष्य भी कठिन से कठिन कविता के शाब्दिक अर्थ को प्रयत्न करने से जान सकता है, परन्तु भावनाओ को समझने के काम में बुद्धि और ज्ञान कुछ भी काम नही देते। किसी कविता का अर्थ तटस्थ रह कर भी जाना जा सकता है पर भावनाओ को समझने के लिए अपने को कवि के साथ एक करना पडता है। साहित्य को *समझने के लिए जीवन के अनुभव की आवश्यकता होती है।"*

—(खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ १८ १६)

(ज) कविता में करुण भावना :—

'बच्चन ने वर्तमान युग की दु खवादी काव्य प्रवृत्ति से प्रभावित होकर काव्य में करुणा की स्थिति को अनिवार्य मानते हुए उसका प्रचुर समर्थन किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य में वेदना की मधुर अभिव्यक्ति निहित रहती है। उन्होने काव्य-भावना के माधुर्य को हृदय-तत्व से

सम्बद्ध करते हुए उसे कवि की विकलता का, उसके आकुल अन्तर का, स्पष्ट कथन माना है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रगीत-काव्य में आनन्द-समष्टि की अपेक्षा आकुलता की समष्टि को अधिक सम्भव माना है। यथा :—

भावनाओं का मधुर आधार सांसों से विनिर्मित।
गीत कवि-उर का नहीं उपहार, उसकी विकलता है॥
—(आकुल अन्तर, पृष्ठ २)

यद्यपि 'बच्चन' का यह वक्तव्य समान्यत: प्रगीत-काव्य के लिए सत्य नहीं है, किन्तु दुःखवादी काव्य की छाया में इसका अध्ययन करने पर हम इसका समर्थन कर सकते हैं। वस्तुतः उन्होंने वेदना को कविता के एक प्रमुख अंग के रूप में ग्रहण किया है और आनन्दवादी कवि की सहानुभूति को जाग्रत कर उसे भी इस ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार कवि के लिए उनका सन्देश जीवन से पलायन न होकर जीवन के प्रति अनुरक्ति है अर्थात् वह कवि को वेदना के अवसर पर भी कर्म-पथ पर अग्रसर होते हुए देखने के इच्छुक हैं। यथा :—

कवि तू जा, व्यथा यह झेल।
वेदना आई शरण में, गीत ले गीले नयन में,
क्या इसे निज द्वार से तू, आज देगा ठेल॥
—(आकुल अन्तर, पृष्ठ २६)

संस्कृत-साहित्य में करुण रस की प्रतिष्ठा का श्रेय महाकवि भवभूति को प्राप्त है और हिन्दी में उसके महत्व का आख्यान करते समय हम सामान्यतः वहीं से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। 'बच्चन' पर उनके सिद्धान्तों का अव्यक्त प्रभाव तो अवश्य रहा होगा, किन्तु मूलतः उन्होंने इस विषय में अपने विचारों को वर्तमान दुःखवादी काव्य और अंग्रेज कवि शैले के काव्य के अध्ययन के उपरान्त उपस्थित किया है। कविता में करुण भावना के समावेश का समर्थन करते हुए शैले (Shelley) ने अपनी कविता में एक स्थान पर कहा है :—

"Our sincerest laughter
With some pain is fraught,
Our Sweetest songs are those
That tell of saddest thought."
—(Skylark)

'बच्चन' ने उनके इस वक्तव्य का समर्थन करते हुए कवि को अभाव में भी भाव, वेदना में भी आनन्द और संघर्ष में भी समन्वय की स्थापना करने वाला व्यक्ति माना है :—

लेकिन कवि तो दुख में भी गाता जाता है,
क्या याद नहीं है शेली बतलाता है—
(जिन गीतों में शायर अपना ग़म रोते हैं,
वे उनके सबसे मीठे नगमे होते हैं ।
—(खादी के फूल, पृष्ठ ४०)

(स) काव्यानन्द :—

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य के विषय में कहा है :—
केवल मनोरंजन न कवि का कर्म्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ।
—(भारत-भारती, पृष्ठ १७१)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त जी काव्य में मनोरंजन के अतिरिक्त नीति-तत्व की प्रतिष्ठा को भी आवश्यक मानते हैं । 'बच्चन' ने भी वर्तमान युग की इस प्रचलित विचार-पद्धति का समर्थन किया है और साधारण मनोरंजनात्मक कविताओं में रुचि प्रदर्शित करने वाले पाठकों को अपरिष्कृत तथा अस्वस्थ प्रवृत्ति वाला कहा है । वह कविता के स्वरूप को आनन्दमय मानते हुए भी उस आनन्द की प्राप्ति को सहज नहीं मानते और उसके लिए अध्येता को सुरुचिपूर्ण गहन अध्ययन का परामर्श देते हैं । यथा —

"जिसके लिये कवि अथवा लेखक ने साधना की है उसका आनन्द लेने के लिये पाठक को भी साधना करनी पड़ती है । कविता से सहज ही आनन्द प्राप्त करने की माँग बढ़ती जा रही है—बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे । यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है ।"

(पल्लविनी, एक दृष्टिकोण पृष्ठ ३७)

इस विषय में अपने विचारों को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक अन्य स्थल पर साहित्यानन्द की प्राप्ति के लिए साहित्य के 'भाषा' और 'भाव' नामक दोनों आधारों के सम्यक् परिशीलन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है । भाषा-विषयक ज्ञान के उपरान्त पाठक को तुरन्त ही भाव बोध की आवश्यकता होती है और इसके लिए उसे प्रतिपाद्य की मूल वृत्ति का परिचय प्राप्त करने के अतिरिक्त उसी कोटि के भाव-संवेदन को भी हृदय में संयोजित

करना होता है अन्यथा साहित्य द्वारा पाठक के समक्ष रस की पूर्ण निष्पत्ति सम्भव नही हो पाती। यथा :—

"साहित्य का आनन्द लेने के लिए भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है। यह तो प्रारम्भिक बात हुई। इसके पश्चात् साहित्य की वृत्ति पहचानी और उसके साथ सवेदना रखनी पडती है। तभी कोई साहित्य अपने रस की गाँठ खोलता है।"

—(पल्लविनी, एक दृष्टिकोण, पृष्ठ ८)।

निष्कर्ष

'बच्चन' के काव्य-सिद्धान्तो के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य में करुण रस की स्थिति' जैसे परम्परागत काव्य-सिद्धान्तो को अध्ययन, मनन और चिंतन के आधार पर मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त उन्होने 'काव्य-बोध की विधि' जैसे नवीन सिद्धान्तो की भी स्थापना की है। उनके द्वारा प्रतिपादित विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत और अग्रेजी के समृद्ध काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने के अतिरिक्त उन्होने वर्तमान काव्य प्रवृत्तियो से सम्बद्ध सैद्धातिक वक्तव्यो को भी उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होने दीर्घ वक्तव्य उपस्थित नही किए हैं, किन्तु काव्य शास्त्र के जिन सीमित प्रसगो को उन्होने ग्रहण किया है उनमें उनके अभिप्राय को समझने में हमें अधिक कठिनाई नही होती।

'बच्चन' ने अपने सैद्धातिक वक्तव्य काव्य-भूमिकाओ तथा गद्याशो में व्यक्त किए हैं। इस विषय में उनकी अभिव्यक्ति की रीति प्राय भावुकतामय रही है और उसके अनुरूप ही उनकी भाषा भी सरल रही है, किंतु कही कही उन्होने सुन्दर साहित्यिक भाषा में शुद्ध सैद्धातिक वक्तव्य भी उपस्थित किए हैं। अन्तत. हम यह कह सकते हैं कि प्रथम श्रेणी के आचार्य न होने पर भी 'बच्चन' ने अपने रचनात्मक काव्य से सम्बद्ध विविध प्रवृत्तियो का सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि अपने काव्य विषय से भिन्न 'बच्चन' ने किसी भी काव्य-सिद्धात पर प्रकाश नही डाला है। यह एक नितान्त स्वस्थ प्रवृत्ति है और इससे उनके काव्य-चिन्तन की सजगता का पर्याप्त बोध हो जाता है।

: २० :

नरेन्द्र जी की काव्य-धारणाएँ

आधुनिक युग के कवियों में कविवर नरेन्द्र शर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने सौन्दर्य, कल्पना, जन-जीवन और राष्ट्रीयता को लेकर काव्य-रचना की है। ये सब भाव तथा विचार सामान्यतः एक दूसरे से पर्याप्त पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु नरेन्द्र जी के काव्य में इन सब का सफल एकत्रीकरण हुआ है। उनके काव्य के एक पक्ष का सम्बन्ध प्रेम और प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं से है। इस प्रकार की कविताओं में कल्पना के आधार पर सौन्दर्य-चित्रण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इनमें भावों की मधुरता के साथ-साथ कला के लालित्य का भी कवि ने सुन्दर संयोजन किया है। 'पलाश-वन' में उन्होंने अपनी इस प्रकार की कविताओं का सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है। अपने काव्य के इस भाग के लिए उन्होंने सौन्दर्य और कोमल कल्पना के प्रख्यात प्रकृति कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और उनकी कुछ कविताओं में पन्त जी की काव्य-धारा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने पन्त जी से प्रभावित होकर उनके काव्य से भावों को ग्रहण किया है। किसी काव्य से भाव-ग्रहण करने और उससे प्रेरित हो कर काव्य-रचना करने में मौलिक अन्तर है। प्रेरणा से उद्भावित काव्य कवि की सहृदयता और भावुकता का प्रतीक होता है। उसकी रचना उस समय होती है जब कवि सहृदय अध्येता के रूप में किसी विशिष्ट काव्य अथवा काव्य-धारा का अध्ययन करता है और तदन्तर उसके रचना-सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर स्वयं भी उसमें प्रतिपादित काव्य-विषय को ले कर कविता लिखने की इच्छा का अनुभव करता है। इस प्रकार की इच्छा अथवा प्रेरणा को लेकर लिखी गई कविता प्रेरणा-स्रोत के होने पर भी सर्वांशतः मौलिक होती है। ऐसा केवल उस अवस्था में नहीं हो पाता जब प्रेरणा ग्रहण करने वाला कवि साहित्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पहचानने में असमर्थ रहता है। नरेन्द्र जी ने इस उत्तर-

दायित्व को पूर्ण रूप से पहचाना है। अतः यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उन्होंने अपने प्रकृति-सम्बन्धी सौन्दर्य-काव्य को पन्त जी के काव्य के आधार पर ही लिखा है। हमें इस काव्य में उनकी मौलिकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

नरेन्द्र जी के काव्य का द्वितीय पक्ष उनके राष्ट्रीयता तथा जन-जीवन-विषयक विचारों से सम्बद्ध है। उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवाद तथा गान्धीवाद का सफल प्रतिपादन किया है। इन दोनों विचार-धाराओं की संधि में उन्होंने मानवतावाद की प्रतिष्ठा की है। इस विषय में उनके विचार सर्वत्र संयत और सन्तुलित रहे हैं। वाद-विशेष के प्रचार में उन्होंने भाग नहीं लिया है। यह उनके स्वस्थ चिन्तन का प्रमाण है। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने प्रगतिवाद के क्षेत्र में सफल काव्य-रचना की है वहाँ वह गान्धीवाद का भी स्वस्थ प्रतिपादन कर सके हैं। उनकी 'रक्त-चन्दन' शीर्षक कृति तथा कुछ अन्य स्फुट कविताएँ इसकी सर्वोत्कृष्ट प्रतीक हैं। इस स्थल पर हमारा प्रतिपाद्य यही है कि नरेन्द्र जी ने अपनी कविताओं में भावों तथा विचारों को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी आत्माभिव्यक्ति-सम्बन्धी कविताओं में यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से उनकी 'प्रवासी के गीत' शीर्षक कृति उल्लेखनीय है।

नरेन्द्र जी की कविताओं में व्याप्त काव्य-श्री का अध्ययन करने के लिए उनके काव्य-सम्बंधी विचारों का अध्ययन अधिक उपयोगी होगा। किसी भी कवि के रचनात्मक साहित्य के प्रति हम तब तक पूर्ण न्याय नहीं कर सकते जब तक उसकी रचना की पृष्ठभूमि में अवस्थित कवि के विचारों से हम अवगत न हों। आधुनिक काव्य का विश्लेषण करते समय हमें यह सुविधा पूर्ण रूप से प्राप्त है। अतः आगे हम नरेन्द्र जी के काव्य-विषयक विचारों का क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

भाषा-विषयक विचार

कवि ने अपनी 'हंसमाला' शीर्षक कृति में एक स्थान पर शब्द सत्ता के विषय में विचार करते हुए काव्य में सरल शब्दों के प्रयोग का समर्थन किया है। उनके अनुसार काव्य का सम्बन्ध हृदय से है और उसमें निहित सत्य भी मानवीय अनुभूति पर आधृत रहते हैं। जो कवि बौद्धिकता से ओतप्रोत शब्दों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं वे उस क्षेत्र की सुन्दरतम शब्दावली का प्रयोग करने पर भी आत्मा के अनुभव को व्यक्त करने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाते। वस्तुतः बौद्धिकता से प्रेरित भाषा कवि को भावों की गहराई तक न ले जा पाती है। अतः कवि को सत्य का प्रतिपादन करने के लिए सहज भाषा का

प्रयोग करना चाहिए। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए —

उज्ज्वल बौद्धिक शब्दजाल में
सत्याभासों का तम है!
—(हंसमाला, पृष्ठ २२)

काव्य-विषयक विचार

(१) कवि और कवि कर्म —

कविवर नरेन्द्र शर्मा ने अपनी 'रक्त-चन्दन' तथा 'हंस-माला' शीर्षक कृतियों में कवि और कवि-कर्म पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार कवि सामान्य सांसारिक जनों से भिन्न एक ऐसा कवितामय जीवन व्यतीत करता है जिसमें एक विशेष सहजता और सात्विकता परिव्याप्त होती है। वह अपने जीवन और काव्य में जड़ तत्वों का परित्याग कर जीवन्त सत्य का प्रतिपादन करता है। काव्य-साधना के अवसर पर वह विश्व के आभ्यन्तरिक और बाह्य पक्षों का परिचय प्राप्त करने के लिए अपनी चेतना को भी उसी के अनुरूप बना लेता है और निरन्तर काव्य-सृजन करते हुए कविता को मौलिक भावों से सम्पन्न करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने कवि को जीवन के अनुभूत सत्य को सौन्दर्यमय अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला प्राणी माना है जो उचित ही है। उदाहरणार्थ महात्मा गान्धी की मृत्यु पर लिखित उनकी 'कवि महात्मा' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

वह अलभ सहज सात्विक जीवन,
लहराती थी जिसमें क्षण क्षण
कविता की विष्णुपदी पावन,
जीवित कविता संजीवन धन!

थी विष्णुपदी वह सूक्ष्मधार,
छू सके न शब्दों के कगार!

था सत्य शिरोमणि अलंकार,
जड़ रूप-प्रकार न थे भावन!

देखा स्वदेश का विद्यायन,
भूखा बन्दी वैशम्पायन!

कामठ कविउर कम्पन कम्पन,
खोले बहिरन्तर के बंधन!

यों सत्याग्रह का मार्ग लिया,
वैशम्पायन को मुक्त किया,
कविता को नूतन अर्थ दिया
लिख चरण चरण पर नये चरण !

—(रक्त-चन्दन, पृष्ठ ४१)

नरेन्द्र जी के अनुसार कवि अपनी सहज प्रेरणा-शक्ति के आधार पर एक सिद्ध व्यक्ति की भाँति काव्य में नित्य नवीन भावों का विधान करता रहता है और उसके द्वारा प्रतिपादित विषयों को, उनमें निहित सत्य के कारण, ससार आदर्श एवं अनुकरणीय सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण कर लेता है। उन्होंने कवि-कर्म की पूर्णता के लिए यह आवश्यक माना है कि कवि अपने अन्तर् में विशद अनुभव का सयोजन करे। इसी अनुभूति के आधार पर वह सम्पूर्ण सृष्टि में अपने जीवन के अभाव-पक्ष के सम स्तर पर दर्शन करने में सक्षम हो पाता है। यह अनुभूति उसे एक प्रकार की समदर्शिता की शक्ति प्रदान कर देती है और वह अपनी भावनाओं को संपूर्ण ससार के साथ रख कर देख सकता है। इसी कारण वह वर्तमान के परिचय को प्राप्त करने के अतिरिक्त अपनी सूक्ष्म अनुभूतिमयी दृष्टि द्वारा भूत और भविष्य के भी उपयुक्त दर्शन कर लेता है। यथा :—

प्रणाली की जगह कवि को,
मिली है प्रेरणा नित नव !
मिले सिद्धान्त जग को, किन्तु
कवि को सिद्धि ही संभव !

× ×

नियति का यह प्रयोजन है कि,
कवि को हो विशद अनुभव !

× ×

मिले सबको सुलभ अवसर, गतागम-
वेधिनी कवि को मिली बस दृष्टि,
मिला ससार का संसार, कवि को
निज अभावों से विनिर्मित सृष्टि !

—(हसमाला, पृष्ठ २६)

नरेन्द्र जी ने काव्य में सत्य-प्रतिपादन की महत्ता को स्वीकार करते हुए अनवरत मनन द्वारा सत्य प्राप्ति की आवश्यकता पर बल दिया है। वह यथार्थ कविता में केवल वर्तमान के यथातथ्य चित्रण का समर्थन नहीं करते, अपितु उनका मन्तव्य है कि कवि को व्यापक ज्ञान की उपलब्धि के लिये निरन्तर जिज्ञासापूर्वक अध्ययनरत रहना चाहिये और अपनी भावनाओं को यथासम्भव संकुचित दृष्टिकोण से असम्पृक्त रखना चाहिए। वह कवि को किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों अथवा परम्परा प्राप्त कवित्व की लघु सीमाओं से पृथक् रहने का परामर्श देते हैं। यही कारण है कि वह अलंकार-योजना को काव्य के लिये एक अनावश्यक भार-मात्र मानते हैं और वर्तमान हिंदी-कविता में व्याप्त विभिन्न वाद धाराओं को भी सामयिक कह कर उनकी स्थिरता में अनास्था प्रकट करते हैं। वस्तुत उनका प्रतिपाद्य यही है कि कवि को स्वतन्त्र दृष्टिकोण से अनुभूतिपरक काव्य-रचना करनी चाहिये —

तू नये सत्य के लिये नित्य कर मन-मंथन,
ओ, स्वर मेरे! तू आगत की अनुगूँज न बन!

बढ़ता ही चले नित्य तेरा मानस-
रथ जिज्ञासा-पथ पर,
है ज्ञान विशद, अति विशद,
कहीं सकीर्ण न बन जाए अतर!
सिद्धान्त प्रयोजन साधन हैं,
बन जायें न ममता के बंधन!
ओ, स्वर मेरे! तू आगत की अनुगूँज न बन!

अपना न कभी कवि की लघु
सीमाओं को तू दे छोड इन्हें!
ये अलंकार बहु भार मोह के
बन्धन हैं, दे तोड इन्हें!
सब वाद-विवाद सामयिक हैं,
तू मुक्त हृदय कर जग दर्शन!

—(हंसमाला, पृष्ठ १३)

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि श्रीयुत नरेन्द्र शर्मा ने भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा का अनुकरण करते हुये जहाँ काव्य में एक ओर लोकानुभव द्वारा प्राप्त सत्यों को प्रेरणा के आधार पर व्यक्त करने का समर्थन

क्रिया है वहाँ दूसरी ओर अपने सामयिक साहित्य का अध्ययन कर मौलिक आचार्य-प्रतिभा का परिचय देते हुये कवियों को अलंकार-मोह और वाद-बन्धन के त्याग का सन्देश दिया है। काव्य-विषयक वर्तमान परिष्कृत दृष्टिकोण के अनुसार उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा उचित हैं और वर्तमान युग में 'निराला', 'पन्त' आदि सभी प्रगतिशील कवियों से उनको अनुमोदन प्राप्त है।

(ii) कवि-सम्पदा :—

नरेन्द्र जी ने गोस्वामी तुलसीदास के स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना के उद्देश्य का समर्थन करते हुये उसी को वास्तविक कवि-सम्पदा माना है। धन और तृष्णा-वेग को काव्य के भाव-तत्व के सम्यक् विकास के लिये हानिकर मान कर उन्होंने उनके द्वारा कवि के मन में वासना और अहम् जैसी कुप्रवृत्तियों के समावेश को सम्भव माना है। स्वार्थ-प्रेरित होने के कारण उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है तथा चेतना, प्रेरणा और कल्पना के अभाव के कारण वह मनोरंजनार्थ साधारण काव्य-रचना में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने काव्य-रचना को साधना का विषय मानते हुये उसे जीवन की सुविधाएँ प्रदान करने वाला नहीं कहा है। यथा :—

(अ) हुआ नित्य निर्धन कवि बन कर
धनी, लालसा का चेरा,
व्यवसायी बन गई भावना,
सुविधा ने डाला डेरा।
गई साधना, रही वासना,
अहंकार फिर मंडराया।
'सबल स्वार्थ की निर्बल आत्मा'—
यह न हृदय-को समझाया।
कनक-तीलियों में बन्दी है,
कवि जन मन बहलाने को,
यदि विचार करते भी हैं तो,
केवल मन समझाने को,
घट के पट में छिपा चेतना
बेत्र नींद में अलसाया।
—(हंसमाला, पृष्ठ ४३)

(ब)
क्या बताऊँ मौन है क्यों
काव्य की उर-सारिका !
कल्पना के कण्ठ को
कटक बने हैं नौलखे !
बहुत समझाया कि भय है,
किन्तु मन माना नहीं—
कनक-तौली सम्पदा की
बहुत घातक हैं, सखे !

—(हंसमाला, पृष्ठ ४४)

कवि को धन के आकर्षण से विमुक्त रखने का यह सन्देश वर्तमान युग के उस सत्य पर प्रकाश डालता है जिसके अनुसार कविगण भौतिकता में उलझ कर काव्य-सृजन से पर्याप्त मात्रा में सन्यास ले लेते हैं। वैसे इस विचार की सत्यता केवल आज के ही युग में न रह कर सभी युगों में रही है। हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में विलास और मनोरंजन की जो बहुलता प्राप्त होती है, वह इसका साक्षात् प्रमाण है। कवि-मन पर कनक-सम्पदा के प्रभाव का इससे ज्वलन्त कोई अन्य उदाहरण सम्भव नहीं है। अतः नरेन्द्र जी द्वारा कवि की चेतना को इसके विरुद्ध उन्मुख करना निश्चय ही प्रशस्य है।

(iii) कविता का मूल सौन्दर्य :—

कविवर नरेन्द्र शर्मा ने कविता का मूल सौन्दर्य उसकी सहज भावनाओं में और कला-बन्धनों से मुक्ति में माना है। इसी कारण उन्होंने कला की अनावश्यक सीमाओं को भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति में बाधक माना है और इस दृष्टि से छन्द-बन्धन का विशेष विरोध किया है। यथा —

लिखित गीत में नहीं अलख के गुन गाने की शक्ति।
प्रकट हुई, तो हुई संकुचित अन्तरतम की भक्ति !
जो अबन्ध है उसे छद के प्रति कैसी अनुरक्ति ?
अलिखित स्वरलिपि की, कृति ही करो, देव, स्वीकार !

—(रक्त-चन्दन, पृष्ठ ६७)

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने काव्य में अलंकार विधान की अपेक्षा सत्य की प्रतिपत्ति को कहीं अधिक आवश्यक माना है। उनके अनुसार असत्याधारित अथवा मनोरंजनार्थ रचित कविता तब तक वास्तविक नहीं

है जब तक वह मानालोक का प्रसारण न करे। अतः वह विनय, शील, दया और निर्भयता आदि विविध गुणों से संयुक्त कवि-हृदय से उद्भावित साधारण कलागत कविता का भी उसकी भावोज्ज्वलता के कारण विशेष आदर करते हैं। वस्तुतः उन्होंने कविता के सहज सौन्दर्य द्वारा विश्व-मन के प्रशस्तीकरण को केवल उसी अवस्था में सम्भव माना है जब वह विविध शैलीगत बाह्य आश्चर्यों का परित्याग कर अनिवार्यतः सत्यपूरित हो। यथा :—

> असुन्दर लगेगा मुझे रूप सुन्दर—
> अलंकार पहने, न पहने-बराबर !
>
> नहीं काम की कान्त कविता किशोरी,
> अगर कवि कहे झूठ बातें सरासर !
>
> पड़े तालियाँ या कनक-कण्ठमाला,
> नहीं काव्य, जो दे न जग को उजाला !
>
> खयाली गुज़ल-गीत, राष्ट्रीय गाने,
> अनन्ती बसन्ती लिरिक या तराने,—
>
> नहीं काव्य, वह जो नहीं सत्य का घर !
> अगर कवि-हृदय है, हृदय में विनय है;
>
> नयन यदि सदय है, सदय पर अभय है;
> (नहीं साँच को आँच !) ऊँची चढ़ेगी,
>
> असुन्दरपदी सहज सुन्दर लगेगी—
> सुकविता बनेगी जगत को दिवाकर !

—(हंसमाला, पृष्ठ २७)

काव्य-सौन्दर्य के विषय में नरेन्द्र जी की उपर्युक्त मान्यताओं पर कवि-वर सुमित्रानन्दन पन्त की तत्सम्बन्धी विचार धारा का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने भी काव्य-सौंदर्य-विधान के लिए भाव-तत्व की समृद्धि का समर्थन किया है और कवि द्वारा केवल कला-तत्वों में उलझ कर रह जाने की निन्दा की है। 'निराला' जी ने भी केवल कलावादी कवियों को प्रतिगामी माना है। इस प्रकार नरेन्द्र जी द्वारा कवि के लिये कला-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व की ओर अधिक ध्यान देने का सन्देश पूर्णतः समयानुमोदित है और उसमें युग-व्यापी सत्य का स्पष्ट अन्तर्निहन है।

(iv) प्रगतिशील कविता :—

कविवर नरेन्द्र शर्मा ने प्रगतिशील कवि तथा उसकी रचना-प्रणाली पर अत्यन्त स्वस्थ विचार व्यक्त किए हैं। वर्तमान हिन्दी-काव्यालोचन के क्षेत्र में यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है और इस पर इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की आज नितान्त आवश्यकता है। नरेन्द्र जी के अनुसार प्रगतिशील कविता में समाज की वस्तु-स्थिति के प्रति कवि की प्रतिक्रिया का चित्रण रहता है। इस प्रकार की कविता का रचयिता कवि वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के उपरान्त उससे अपने व्यक्तित्व के सम्पर्क की सम्भावनाओं का अध्ययन करता है और तदनन्तर क्रियाशील व्यक्तित्व तथा वस्तु-स्थिति के पारस्परिक संघर्ष तथा समन्वय के परिणाम-रूप में प्राप्त तथ्यों को जीवन में सन्देश के रूप में ग्रहण कर लेता है अर्थात् प्रगतिशील कविता में वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के उपरान्त कवि उसके प्रति अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नरेन्द्र जी प्रगतिशील कविता में तथ्य-ग्रहण को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार परिष्कृत रुचि तथा प्रौढ व्यक्तित्व से युक्त होने के कारण कवि सामाजिक स्थिति में परिवर्तनार्थ सक्रियता का उपयुक्त प्रदर्शन करता है और जर्जर संस्कारों का त्याग कर साहित्य के नव निर्माण में योग देते हुये अपनी प्रगतिशील कविता में तथ्य-ग्रहण, व्यक्तित्व-समाहार, सक्रियता-प्रदर्शन, जर्जर-संस्कार-त्याग और नव निर्माण की चेतना का होना आवश्यक मानता है। इस विषय में वह लिखते हैं :—

"वह कवि प्रगतिशीलता के उतना ही निकट समझा जायगा जो वस्तु-स्थिति और उसकी छाया में अकुलाने वाले अपने व्यक्तित्व को, व्यक्तित्व में निहित सक्रिय सामर्थ्य और सीमाओं को तथा वस्तुस्थिति और व्यक्तित्व के घात-प्रतिघातपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जनित गतिशीलता के नियम को जितना ही अधिक समझता है और व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करता है। यह समझदारी और तथ्य-ग्राहकता प्रगतिशीलता की पहली सीढ़ी है। अपनी सक्रिय शक्ति से प्रतिकूल वस्तुस्थिति को बदलने, अर्थात् उसे सामाजिक प्रगति के अधिक अनुकूल बनाने की लगन और जर्जर संस्कारों से अपनी मुक्ति को नव निर्माण में सार्थक बनाने से ही कवि प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर हो सकता है।"

—(मिट्टी और फूल, भूमिका, पृष्ठ २)

निष्कर्ष

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवर नरेन्द्र शर्मा ने कवि, काव्य तथा कवि-कर्म के विषय में अपने विचारों को वर्तमान हिन्दी-कविता की परिस्थितियों की दशा में व्यक्त किया है। अन्य कवियों की भांति उन्होंने भी अपने काव्य-सिद्धान्त गद्य तथा पद्य, दोनों के माध्यम से अभिव्यक्त किये हैं। प्रगतिवादी कवि होने पर भी उन्होंने वाद-प्रभाव-वश काव्य के प्रति किसी संकुचित दृष्टिकोण का परिचय नहीं दिया, अपितु इसके विपरीत उन्होंने काव्य में वाद-बन्धन का विरोध कर अपनी विशालहृदयता का ही परिचय दिया है।

परिशिष्ट

(कतिपय कवियों के विषय में प्राप्त काव्योक्तियों का संग्रह)

सामान्य कवि-चर्चा

(१) अज्ञात कवियों द्वारा लिखित :

तत्व-तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी॥

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

(२) कविवर भिखारीदास द्वारा लिखित :

एक लहैं तप-पुंजन्ह के फल,
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केशव,
भूषन ज्यों बरबीर बडाई॥

× ×

एकन्ह को जस ही सो प्रयोजन,
है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन की चर्चा,
गुनवन्तन को सुखदं सब ठाईं॥

—(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४)

× ×

सूर केसो मडन विहारी कालिदास ब्रह्म,
चिन्तामणि मतिराम भूषन से जानिये।

लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि,
नीलकण्ठ, सुखदेव, देव मानिये॥

आलम, रहीम, रसखानि, रसलीन, और
सुन्दर सुमति भये कहाँ लौं बखानिये।

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौं,
ऐसे-ऐसे कविन्ह की बानिहु से जानिये॥

—(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ६)

× ×

तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन्ह के सरदार।
इनके काव्यन्ह में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

—(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ६)

कविवर विद्यापति

कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' द्वारा लिखित—

वैशाली के भग्नावशेष से,
पूछ लिच्छवि शान कहाँ?
ओ री उदास गण्डकी बता,
कवि विद्यापति के गान कहाँ?

महाकवि सूरदास

(१) कविवर 'निराला' द्वारा लिखित—

सूरदास के गीत, रसो के स्रोत निरन्तर,
फूटा सरिताएँ, उमड़ा रसधर से सागर।

—(नए पत्ते, देवी सरस्वती' दीपक कविता)

(२) कवि श्री हरिवंशराय 'बच्चन' द्वारा लिखित—

था सहज विश्वास का युग
जब कि तुम ने गीत गाया,
और मैं सन्देह, शंका,
संशयों का हूँ सताया,
मैं तुम्हारे श्याम से तुमको
अधिक सच मानता हूँ—

जब मुझे भगवान कहना था तुम्हें मैंने पुकारा।
सूर, पथ मुझ को दिखाओ, पद-लगा मैं हूँ तुम्हारा॥

—('सूरदास के प्रति' शीर्षक कविता)

(३) श्री रामनारायण अग्रवाल द्वारा लिखित—

वह सीही सरोवर कौ जलजात,
गुबासित है व्रज-बीथिन फूलौ।
वल्लभ दिव्य छटा तें प्रकास को,
पाय प्रभाकर भौ रस मूलौ॥
है व्रजराज सखा कवि सूर जू,
नैनन मूँद सबै जग भूलौ।
राधिका नागरी के कर कजन कौं,
अपनो पलना कर झूलौ॥

(४) श्री गोपालकृष्ण कौल द्वारा लिखित—

मुझको आती है याद सूर की वे आँखें,
जो जीवन की तस्वीर उतारा करती थीं,
जो मर्म छिपा रहता था आँखों वालों से—
सूरा की आँखें उसे निहारा करती थीं।
उन आँखों में ना जानें कैसा जादू था,
सुन्दरता उनमें बसने को ललचाती थी;

उस समय मनुज की घायल प्रेम-व्यथा थक कर
उन ग्रांखो में ही रैन-बसेरा पाती थी।

हम नही जानते उस राधा की प्रेम-पीर,
जो किसी संवरिया के ग्रधरो की मुरली थी;

पर वह राधा कितनी जानी-पहचानी है—
जो उन ग्रधी ग्रांखो की ज्योतित पुतली थी ।

सूरा का ईश्वर ग्ररे, ग्राज भी हर घर में—
घुटनो के बल पंजनी बांध कर चलता है;

ग्रब भी धरती पर देखो ईश्वर का बेटा—
चन्द्रमा पकडने के हित रोज मचलता है।

कितना ही बदले रग जमाना रोज-रोज,
काली कामर पर रंग न चढने वाला है;

सूरा की आंखो के जादू का वशीकरण—
इतनी जल्दी ही नहीं उतरने वाला है।

—('सूरा की ग्रांखें' शीर्षक कविता)

(४) श्री ओंकारनाथ पाण्डेय द्वारा लिखित—

देखि लयो सब देखनो जो ग्रब,
ग्रौर कछू ग्रभिलाख न राखें।

ग्रौर को ठौर कहां है ? वही,
निसि-बासर, रूप सुधारस चाखें ॥

ग्रौर कछू परि जाय न ग्रांखि,
निरन्तर मूंदि इन्हें गह राखें।

ग्रांधरो कौन कहें ग्रंधरो ?
बडी दूर को देखति सूर की ग्रांखें ॥

(६) श्री देवव्रत 'देव' द्वारा लिखित—

जिसने तम में प्रकाश की रेखा खींची—
जिसने जीवन के गीत सुनाये सुन्दर;
जो मुरलीधर मोहन का अनुपम चित्रकार,
जिसके पद उन्मद, रसमय, स्नेहिल, मनहर;

जिसके स्वर में लहराती, इठलाती है—
माता के अन्तर की रसवन्ती ममता,
जिसने अतीत को गीतों में दुहराया—
कल्पनातीत सर्जन की जिसमें क्षमता;

जो आज रक्त-प्यासे मानव को अपने—
वात्सल्य-स्नेह-स्वर से पिघला सकता है,
जो नयन-नीर से तप्त हृदय-मरुथल को—
नहला कर, अमृत-धार बहा सकता है;

उस अमर गीतकार, आशा के सृजनहार—
का वन्दन करती है कविता भी बार-बार;
उद्जन के उद्घोषक! तुम सुनते हो क्या—
उस सूरदास के स्नेहिल गीतों की पुकार?

—('गीतों की पुकार' शीर्षक कविता)

(७) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

धन्य सूर की गोपिका, प्रेम-भाव में लीन।
उद्धव की निर्गुण-कथा, क्षीण हुई बन दीन॥

सूरदास के काव्य में, जीवन की शुभ कान्ति।
मन को मधु का दान दे, हरती है सब क्लान्ति॥

शिशु जीवन के गीत को, बना लिया मन मीत।
पुलक चली धरती सभी, देख हिये की प्रीति॥

वंशी को कर में लिये, कहते सूर सप्रीति।
'हे कदम्ब! तुम ही कहो, कृष्ण-वेणु की रीति'॥

नयन हृदय के खुल गये, बाँध स्वरों की तान।
रास-नृत्य के रूप का, करते हो अनुमान॥

'भ्रमरगीत' में निहित है, कृष्ण-भक्ति का भाव।
उद्धव सस्मित हो रहे, देख गोपिका-नाव॥
जिसकी वंशी में सदा, भर आता जग-गीत।
सूर-हृदय चिर मुग्ध है, पा कर ऐसा मीत॥

—(आधुनिक सतसई, कवि-स्तवन

गोस्वामी तुलसीदास

प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

तुलसी के मन पर लगी, उन चरणों की छाप।
जो अपने मकरन्द से, हरते जग के शाप॥
तुलसी के युग काव्य में, मर्यादा का अंश।
मन के सब संशय मिटा, हरता विषमय दंश॥
राम-नाम का स्मरण कर, मोह-भाव को त्याग।
तुलसी ने जग बन्ध तज, गाया पूर्ण विहाग॥
मन को स्वच्छ अमोह कर, त्याग सभी जग-ध्यान।
तुलसी ने गाये अमर, राम भक्ति के गान॥

—(आधुनिक सतसई, कवि-स्तवन)

कवयित्री मीराबाई

(१) कविवर 'निराला' द्वारा लिखित—

मीरा की मानसी गीतिका सहृदयता की,
छवि से भरी हुई, निरवधि कलियों की राखी।

—(नए पत्ते, 'देवी सरस्वती' शीर्षक कविता)

(२) शुभ श्री उर्मिला कुमारी गुप्ता द्वारा लिखित—

मीरा के उर - गिरि से निकली,
कृष्ण-भक्ति की मधुमय धार।
सहज भाव से रही प्रवाहित,
करती जन-मन का शृंगार॥

रीति काल के वीर रस के कवि

प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

भूषण के युग-राज्य में, रहता शौर्य सलाम।
शान्त गगन में भी जहाँ, पड़ता विघ्न-राम॥
भूषण के पद पाठ में, सुगर शिवाजी राम।
बार-बार कहते, प्रभो, पढ़ो उसे अविराम॥
सफल लाल की लेखनी, दे कर 'छत्र-प्रकाश'।
सत्वरता से तोड़ती, कायरता के पाश॥
सूदन की रसमय रचा, ले कर नया हुलास।
उस सुजान के भाव का, करती सफल विकास॥

कविवर विहारी

प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

'अलि कली ही सो वंध्यो, आगे कौन हवाल।'
कविवर की पद-पंक्ति यह, गई नृपति को साल॥

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री रासबिहारी 'मंजुल' द्वारा लिखित—

अल्हड़ यौवन की सुषमा में छाया-सी जब,
हँसती कलित कल्पना-सी बन ऊषा पहली,
तब वीणा में लज्जा से गाती सुकुमारी—
कहते हैं जिसको गीतों की परी रुपहली।
कोमल कांत रंग रूप रखा नव स्वर धर,
काव्य तुम्हारा मिला मुझे सुषमा-सा सुखकर,
मधुमय स्वप्न, स्वर्ण शब्द, कल्पना-कामिनी—
(हँसती चंचल मुग्धा सी ज्यों चपल चाँदनी)।
छायावाद, रहस्यवाद औ' साम्यवाद तल—
गाँधीवाद का स्वर झंकृत होते पल-प्रतिपल,